सिद्ध योग

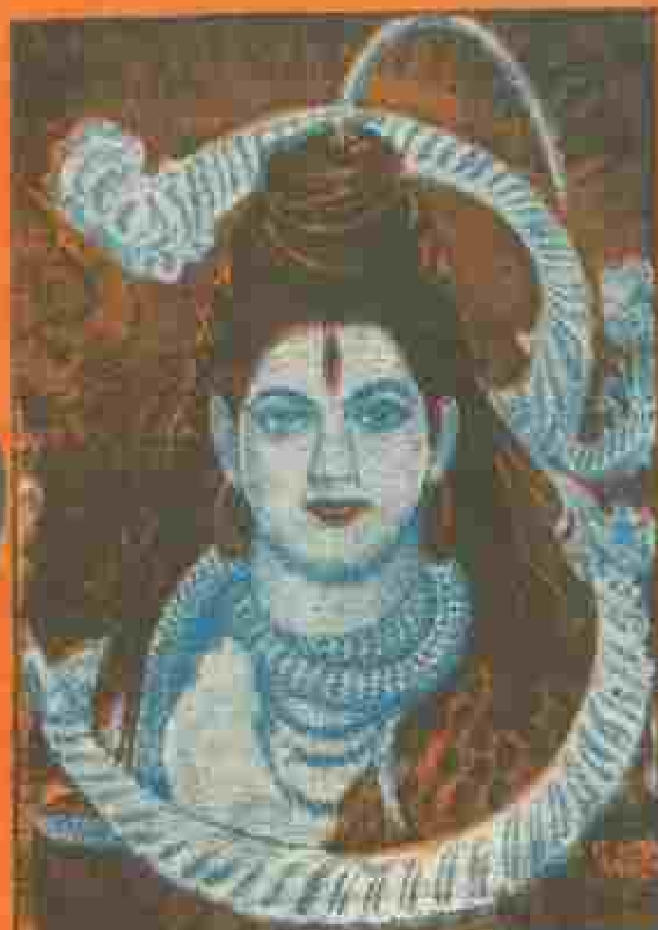

संस्थापक सम्पादक :-
योगिराजेश्वर आचार्यश्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन
सैंवाई, आगरा

वर्ष १८
अंक १

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, सवाई

इस अंक में—

- वैराग्य मेवाभयम् — १
- ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि सिद्धि — २
  योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- योगस्थः कुरु कर्माणि — ५
  श्री कपिलदेव उपाध्याय
- महात्मा यीशु की योग विभूतियाँ — १०
  डा० विजयसिंह
- यौगिक प्रश्नोत्तरी — १३
- हमारी कामनायें और माँ प्रभुजी — १५
  केशवदेव उपाध्याय
- यह क्या ? — १८
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
- प्रार्थना में उपस्थित — २३
- आनन्द और शान्ति कहाँ है ? — २४
  ब्रह्मचारी श्री जगन्नाथ
- योगेश्वर चरित्र माला — २८
  श्री गुरुदेवजी द्वारा
- नारी के लिए योग—साधना — ३४
  डा० श्री विजय शङ्कर उपाध्याय
- अमृत-सर : यौवन-सुधा—(गद्य गीत) — ३६
  श्री दिनेशनन्दिनी डालमिया
- धर्म का पहला साधन—स्वस्थ शरीर — ४०
  श्री सोनेराव आचार्य एम० ए०
- श्रीराधा तत्व — ४१
  श्री देवी सिंह सिसोदिया
- गुरु की आवश्यकता गुरु-भक्ति और श्रद्धा — ४३
  श्री श्री अरविन्द का दृष्टिकोण
- अनुशासन का महत्व — ४६
  श्री पं० [illegible] स्नातक
- पत्रं पुष्पं फलं तोयम् — ४८

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
अगस्त १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया। इस अङ्क का ३ रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १८
अङ्क ५

अगस्त
१९८५

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुख विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्प्राप्त्यर्थं बहुविशदं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:'॥

— ❀ वैराग्यमेवाभयम् ❀ —

भोगे रोग भयं कुलेच्युतिभयं, वित्तेनृपालाद् भयं।
माने दैन्य भयं बले रिपुभयं, रूपे जराया भयम्॥
शास्त्रे वादभयं गुणे खलभयं, काये कृतान्ताद् भयं।
सर्वं वस्तु भयान्वितं भुविनृणां वैराग्यमेवाभयम्॥

—योगी भर्तृहरि जी

अर्थात्

भोग में रोग का भय, ऊँचे कुल में उत्पन्न होने पर उससे नीचे गिरने का भय, धन रहने पर राजा का भय, मान में दीनता का भय, बल रहने पर शत्रु का भय, सौन्दर्य रहने पर वार्धक्य का भय, वेदान्तादि शास्त्र के रहने पर वाद-विवाद का भय, विनय आदि गुणों के रहने पर दुष्टों का भय, शरीर रहने पर यम का भय होता है—कहने का तात्पर्य है कि इस संसार में सभी पदार्थ भय से व्याप्त है। केवल एकमात्र वैराग्य अर्थात् विरक्ति ही निर्भयता का स्थान है।

हमारा विशेष लेख—

ईश्वर प्रणिधान एवं समाधि सिद्धि

● योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

इससे पहले हम अपने पूर्व लेखों में यह कई बार समझा चुके है कि मनुष्य जन्म के कल्याण के लिये योग के द्वारा समाधि रूप चरम लक्ष्य को प्राप्त करना मनुष्य का पहला कर्तव्य है और समाधि प्राप्ति के वर्णित साधनों में साधन योग और सिद्ध योग अपना अलग स्थान रखते हैं। साधन योग के विषय में 'समाधि सिद्धि के लिये छः अचूक साधन' नामक लेख इससे पहले लिख चुके है, किन्तु वह सारा विषय साधना से सम्बन्ध रखने वाला विषय है। योग-दर्शन के समाधि पाद में भगवान् पतंजलिदेव जी ने जहां अन्यान्य साधनों का जिक्र किया है, वहां पर यह भी कह दिया कि—

ईश्वरप्रणिधानाद्वा

अर्थात् ईश्वर की भक्ति से असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। इस पर पढ़िए व्यास भाष्य—

प्रणिधानाद्भक्तिविशेषादावर्जित ईश्वर-स्तमनुगृह्णात्यभिध्यानमात्रेण। तद्-भिध्यानादपि योगिन आसन्नतमः समाधि लाभः समाधिफलं च भवतीति।

अर्थात् भक्ति विशेष से अवर्जित किया हुआ ईश्वर साधक पर कृपा करता है कि इसको समाधि की प्राप्ति हो जाय और ईश्वर के ऐसा संकल्प करने पर साधक को अवश्य ही समाधि की प्राप्ति एवं समाधि का फल प्राप्त हो जाया करता है, क्योंकि ईश्वर आदि महा सिद्ध है। सिद्धों के और आदि महा सिद्ध ईश्वर के संकल्प होने पर साधक को किसी दूसरी साधना की आवश्यकता नहीं रहती। अनायास ही किसी प्रकार के प्रयत्न विशेष के बिना ही उसको समाधि सिद्धि हो जाया करती है। इसके विषय में भक्तों के इतिहास में बहुत बड़े-बड़े प्रमाणित प्रमाण है। आम संसार के लोग जो इन सिद्धान्तों को नहीं जानते और न समझते है, इसी कारण से ऐसे लोग योग के दायरे को एक सीमित दायरा समझते हैं। आजकल ये लोग यह जानते हैं कि जो कोई व्यक्ति कुछ आसन आदि करना जानता है बस, वही योगी है। उन लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं है कि अष्टांग योग की साधना में ईश्वर प्रणिधान भी योग ही है। इस योग को हमारी शास्त्रीय परिभाषा में सिद्धयोग कहा गया है। जिस प्रकार से हिमालय में रहने वाले योगी लोग शरणागत साधकों पर केवल

कृपा करते हैं और उनकी इस कृपा के फल-स्वरूप ही उनको समाधि लाभ हो जाता है। किसी भी प्रकार की अन्य साधना करने की उनको आवश्यकता नहीं होती। केवल सिद्धों की कृपा मात्र से वे लोग भी सिद्ध हो जाते हैं। ईश्वर भी आदि महासिद्ध है। इसलिये ईश्वर की कृपासे सभी कुछ सुलभ हो सकता है। भगवान् पतंजलिदेव ने ईश्वरप्रणिधानाद्वा यह सूत्र कह करके यह संकेत कर दिया कि ईश्वर की कृपा से भी समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

योग-दर्शन में अभी तक प्रकृति पुरुष का वर्णन किया था और उसमें यह दिखलाया था कि बुद्धि और पुरुष का परस्पर मेल ही अस्मिता नाम का क्लेश है। इन सभी क्लेशों की निवृत्ति मनुष्य को तभी हो सकती है, जबकि वे अपने आपको कैवल्यभाव में ले जाएँ, प्रकृति अपने स्वरूप में चली जाये। अर्थात् गुणों का गुणों में अवस्थान हो जाय और पुरुष जीवात्मा अपने माया रहित शुद्ध स्वरूप में पहुँच जाय, यही प्रकृति और पुरुष दोनों का कैवली भाव है। कैवल्य की परिभाषा लिखते हुए भगवान् पतंजलिदेव जी ने यह स्पष्ट उल्लेख कर भी दिया है कि—

सत्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति।

अर्थात् जहां प्रकृति अपने स्वरूप में चली जाय और पुरुष जीवात्मा अपने स्वरूप में चला जाय, वही दोनों का कैवली भाव है। इसी लक्ष्य को सिद्ध करने के लिए महर्षि भगवान् पतंजलि जी महाराज ने प्रकृति और पुरुष के शुद्धि साम्य के लिए विविध प्रकार के साधनों का प्रयोग किया, किन्तु यह सब कुछ कहने के बाद उन्होंने "ईश्वर प्रणिधानाद्वा" यह सूत्र कह करके ईश्वर की कृपा से भी समाधि सिद्ध हो सकती है ऐसा कह दिया है। श्री पतंजलि जी महाराज के इन शब्दों को सुनकर श्रोताओं ने कहा कि—

प्रधान पुरुष व्यतिरिक्तः कोऽयं-ईश्वरोनाम इति।

अर्थात् प्रकृति और पुरुष से भिन्न यह ईश्वर नाम की तीसरी वस्तु कहाँ से आ गई और इसका लक्षण क्या है? इसका उत्तर देते हुए भगवान् श्रीपतंजलिदेव जी महाराज ने ईश्वर का स्वरूप समझाते हुए निम्नांकित सूत्र का निर्देशन किया—

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष-विशेषः ईश्वरः।

अर्थात् जो क्लेश-कर्म विपाक आदि से बिलकुल अपरामिष्ट है, उसको ईश्वर कहते हैं। जीवात्मा के साथ क्लेश-कर्म विपाक आदि हमेशा लगे रहते हैं, किन्तु परमात्मा के साथ यह क्लेश-कर्म विपाक आदि न कभी थे और न अब हैं और न कभी आगे होंगे। इस लिए ईश्वर को पुरुष विशेष कहा गया है। पुरुष विशेष कहने का अभिप्राय है कि पुरुषों के बहुत बड़े समुदाय के अन्दर किसी खास

व्यक्ति को बुलाने के लिये यह कह दिया जाय कि अमुक नाम के सफेद दुपट्टे वाले खास आदमी को बुला लाओ जो सबका नेता है। ऐसे शब्द कहने से उसी खास आदमी की विशेषता प्रकट हो गई। इसी प्रकार ईश्वर को पुरुष विशेष कहने से और क्लेश-कर्म विपाक आदि से अपरामृष्ट रहने के कारण उस परम पुरुष परमात्मा की विशेषता स्वतः ही प्रकट हो गई। जीवात्मा व परमात्मा में अन्तर है तो केवल इतना ही है कि जीवात्मा बौद्धिक सम्बन्ध के कारण सदा से बद्ध चला आया है और ईश्वर की बद्ध कोटि न कभी पहले थी और न अब है और न कभी आगे होगी। यद्यपि जीवात्मा भी बद्ध कोटि से निकल जाने के बाद शुद्ध और अनन्त है। शुद्ध अनंत और विकार रहित है, यही उसकी मुक्तावस्था है। इसलिये ईश्वर अनादि महासिद्ध है और सदा सर्वदा ही बन्धन कोटि से परे है और प्रकर्ष गति से सदा सर्वदा से सिद्ध है। जिस प्रकार हिमालयवासी अन्य सिद्ध-योगेश्वर शरणागत पुण्यात्मा प्राणियोंको अपनी कृपा के द्वारा शक्ति-संचार करा करके कैवल्य लाभ कराया करते हैं। इसी प्रकार से वह परमात्मा भी जहां-जहां जिस व्यक्ति पर ऐसा अनुग्रह करता है तो उसको अवश्य ही समाधि की प्राप्ति हो जाया करती है। संसार में ईश्वर की कृपा को प्राप्त कर समाधि लाभ प्राप्त करने वाले अनेकानेक भक्त आत्माओं के उदाहरण हैं।

हमने अपने पिछले लेखोंमें यह कई जगह पर संकेत किया है कि ब्रह्मा, विष्णु, शिव ये सबके सब आदि महा सिद्ध और क्लेश-कर्म विपाक आदि से सदा सर्वदा विमुक्त ईश्वर हैं। इन लोगों का अपना कोई भी कर्तव्य अवशेष नहीं है। केवलमात्र प्राणियों के भले के लिए और उनको अपना अनुग्रह भाजन बनाने के लिए परमात्मा की अपनी सत्ता है। ईश्वर के अनुग्रह से जिज्ञासु जीवात्माओं को समाधि लाभ हुआ करता है। यह योग मार्ग से अनभिज्ञ साधारण लोगों की भावनायें रहा करती हैं। कहीं पर कोई योग विषयक चर्चा चलती है तो यह लोग बहुत जल्दी कह दिया करते हैं कि बतलाइये गोपियों ने कब योग किया। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कौनसी योग साधना की। नरसी मेहता आदि भक्तों ने कब कब समाधि लगाई। वस्तुतः इन लोगों के ये प्रश्न अनभिज्ञता के सूचक हैं। ये लोग योग के स्वरूप को एवं योगकी सीमा को जानते ही नहीं हैं। वस्तुतः शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार तो गोस्वामी तुलसीदास ब्रज-गोपियां एवं नरसी मेहता आदि भक्तात्माओं से योग से ही कल्याण हुआ। इतना अवश्य कहना ही पड़ेगा कि यह सब लोग सिद्धयोग के विद्यार्थी थे। उस परम

पुरुष परमात्मा के अनुग्रह को पाकर ही समाधि को प्राप्त हुए।

हमने पहले समझा दिया है कि जिस समय मनुष्य भीतरी जगत में प्रवेश करता है तो वह भक्त नहीं प्रत्युत योगी कहलाता है। जो मनुष्य अन्तर्दृश्य का द्रष्टा बन जाता है वह स्वतः ही समाधि भाजन बन जाता है, उसे योगी ही कहा जा सकता है, क्योंकि सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद हमारे ऋषि, मुनियों ने स्वयं स्वीकार किये हैं। अन्तर्दृश्यों का द्रष्टा बन जाना ही सम्प्रज्ञात योग का विद्यार्थी बनना है। सर्व समर्थ गुरुदेव आंखों से देखकर शक्तिपात करते हैं, वह दृग दीक्षा कहलाती है। हाथ से किसी के सिर पर स्पर्श करके आशीर्वाद देते हैं, वह स्पर्श दीक्षा कहलाती है। किसीको हृदय से प्यार करते हैं, वह हार्द दीक्षा कहलाती है। मन में किसी के लिए संकल्प करते हैं, वह संकल्प दीक्षा और मानस दीक्षा कहलाती है। परम पुरुष अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र ने भूतानुग्रह को ध्यान में रखकर ब्रज में प्रकट होकर लीलायें कीं और उन लीलाओं के अन्तर्गत ब्रज गोपियों पर अपने अतुलित प्यार से शक्ति संचार किया। इसके फलस्वरूप रास मण्डल में भगवान् के अन्तर्ध्यान हो जाने के बाद ब्रज गोपियों को भीतर की दुनिया में यह अनुभूतियां बराबर चलती रहीं और वे गोपियां यह कहती रहीं कि यह देखो श्याम—यह देखो श्याम, यही है श्याम और यह कहती-कहती वे लोग तदाकारकारित हो गईं और भगवान श्रीकृष्ण की की हुई लीलाओं का अनुसरण करने लगीं यह उनकी समाधि ही थी। इसी प्रकार गोस्वामी तुलसीदास एवं नरसी महता आदि भक्तात्मा भगवान् भूतभावन आशुतोष शंकर जी के अनुग्रह भाजन बने, जिससे उनको दिव्य-दृष्टि प्राप्त होगई। जो मनुष्य अन्तर्जगत का द्रष्टा बन जाता है उसके अन्दर अनायास ही शक्ति का समुच्चय हो जाया करता है। इसका फल यह निकलता है कि वह व्यक्ति जिसको जो कुछ कह दिया करता है उसका वह काम तत्काल हो जाया करता है। इसी का यह उदाहरण है कि बनारस में किसी के शव को जलाने को ले जाते हुए उसको गोस्वामी तुलसीदास जी ने उसकी सती साध्वी स्त्री को आशीर्वाद देकर मृत शव को जिन्दा कर दिया और वह स्त्री विधवा से सधवा हो गई। इसी प्रकार से भगवान् शंकर के परम अनुग्रह को पाकर नरसी मेहता के जीवन में चमत्कारिक घटनायें घटीं। उनकी घटनाओं को सभी लोग भली प्रकार से जानते ही हैं। सोने की वर्षा होना यह केवलमात्र नरसी मेहता के जीवन में ही घटित हुई और इसका मूल कारण नरसी मेहता की कठिन तपस्या को देखकर भगवान् शंकर जी प्रसन्न होना और वरदान देना। जिसके

फलस्वरूप नरसी मेहता को भगवान् श्रीकृष्ण का साक्षात्कार प्रति क्षण बना रहने लगा था। यह सबकी सब घटनायें योग से ही संबन्ध रखने वाली घटनायें हैं। जो भक्त लोग ईश्वर के इस प्रकार अनुग्रह भाजन नहीं बन पाये हैं उनके जीवन में ऐसी कोई चमत्कारिक घटना भी घटित नहीं हो पाई। इसलिये हमने अपने इससे पिछले लेख के अन्दर समाधि प्राप्त करने के जितने साधनों का वर्णन किया, उन सबमें से उत्कृष्टोत्कृष्ट साधन ईश्वर प्रणिधान ही है। योग-दर्शन में भगवान् पतंजलिदेव जी बिल्कुल सीधे और स्पष्ट शब्दों में लिखते हैं कि—

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

ईश्वर प्रणिधान से समाधि सिद्धि होती है। इस पर पढ़िये व्यास भाष्य—

ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिर्यया सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं प्रजानातीति ।

अर्थात् जो परम पुरुष परमात्मा को सब प्रकार से आत्म समर्पण कर देते हैं, उनको ईश्वर की महान् अनुकम्पा से अवश्य ही समाधि सिद्धि हो जाया करती है और जो कुछ भी वह जानना चाहता है, अपने देश में दूसरे देश में, इस देह में या दूसरी देह में, इस समय या कालान्तर में सभी बातों का यथार्थ ज्ञाता हो जाया करता है। इसलिए हमने इससे पहले अपने लेखके अन्दर भगवान् पतञ्जलिदेव जी के बतलाये हुए छः अचूक साधनों का वर्णन किया है। वे सारे के सारे साधन साधनालभ्य हैं, किन्तु ईश्वर प्रणिधान करने वाला व्यक्ति ईश्वरानुग्रह को प्राप्त करके समाधि सिद्धि को पा जाया करता है। समाधि सिद्धि के लिए ईश्वर प्रणिधान एक उत्कृष्टोत्कृष्ट साधन है। सर्व साधारण के हित के लिए हमने इस सिद्धान्त को सरलता के साथ समझाने का प्रयत्न किया है, जिससे सभी लोग अनुपम लाभ उठा सकें।

अनन्त शास्त्रं बहुलाश्च विद्याः, अल्पश्च कालो बहुविघ्नता च ।
यत्सारभूतं तदुपासनीयं, हंसो यथा क्षीरमिवाम्बुमध्यात् ॥

—शास्त्र अनेक हैं, विद्यायें भी बहुत हैं, समय थोड़ा है, विघ्न-बाधायें भी बहुत-सी हैं। अतएव जैसे हंस जल-मिश्रित दूध में से जल को अलग करके केवल दूध को ले लेता है, उसी प्रकार निरर्थक बातों को छोड़कर जो कुछ सारभूत हो उसी को ग्रहण कर लेना चाहिए।

—चाणक्य

योगस्थः कुरु कर्माणि

❀ श्री कपिलदेव उपाध्याय, बी० एस० सी०

योग शब्द का प्रयोग आजकल जहाँ-तहाँ सुनने में आता है। यह शब्द काफी परिचित सा हो गया है। किसी से भी पूछने पर सीधा-सा उत्तर दे देता है कि योग का अर्थ है जोड़ना और अधिक प्रश्न करने पर पांडित्य पूर्ण शब्दों में मिलेगा—"अरे भाई! आत्मा का परमात्मा के साथ मिलना ही योग है।" हम अपनी मूर्खता अधिक प्रकट न कर सकें, इसलिये हाँजी-हाँजी कर लेते हैं। पर वस्तुतः न तो हम आत्मा को ही जानते हैं न परमात्मा को ही। बस, इतना सा ज्ञान है कि इस शरीर में चैतन्य शक्ति ही आत्मा है और सारे विश्व ब्रह्माण्ड को सुचारु रूप से चलाने वाली किसी महाशक्ति को परमात्मा कहते हैं। वही कहीं पर है जरूर, पर इस शरीर में नहीं है। शास्त्रों ने बड़ी-बड़ी बातों में इसकी परिभाषा भी लिख रखी है। भगवान् पतञ्जलिदेव ने उसे 'पुरुष विशेष' कहा है। यह सब सत्य है, पर उनका मिलान किस प्रकार से करें? क्या कुछ शब्दों का जप करने से ही उनका मिलना सम्भव है? क्या पुस्तकों का अध्ययन करने से होगा? क्या इन्द्रियों पर संयम करने से होगा? क्या सारे संसार के प्रति वैराग्य आ जाने से होगा? क्या धर्मों का अध्ययन करने से होगा?।

बाल गंगाधर तिलक ने अपनी गीता भाष्य में ज्ञान की एक परिभाषा लिखी है। ज्ञान चार वर्णों ज+ञ+आ+न से मिलकर बना है। 'ज' का अर्थ है जायमान (उत्पन्न होना)। 'ञ' का अर्थ है पञ्च महाभूत, 'आ' का अर्थ है आसक्ति तथा 'न' का अर्थ होता है नहीं। इस प्रकार 'ज्ञान' शब्द का अर्थ हुआ पञ्च महाभूतों से उत्पन्न वस्तुओं के प्रति आसक्त न होना ही ज्ञान है। पर क्या इससे योग का उद्देश्य पूर्ण होगा?

हमारे दादा गुरु ने तो यह बताया है कि—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि,
धर्मज्ञोऽपि च जितेन्द्रिय।
बिना योगेन देवोऽपि,
न सिद्धि लभते प्रिये॥

चाहे कोई कितना भी ज्ञानी हो, बड़ा ही वैरागी हो, धर्म वेत्ता हो और चाहे जितेन्द्रिय हो, बिना योग के हे पार्वती! देवता भी सिद्धि प्राप्त नहीं कर सकते। फिर मनुष्य तो मनुष्य ही है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के ७ वें अध्याय के ७ वें श्लोक में कहा है—

मत्तः परतरं नान्य-
त्किञ्चिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं,
सूत्रे मणिगणा इव॥

—गीता ७/७

हे अर्जुन ! मेरे सिवा किञ्चित् मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह सम्पूर्ण जगत मेरे में मणियों की माला के समान गुंथा हुआ है। इससे ईश्वर के बारे में एक बात बहुत ही अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है कि सारे जगत को सूत की तरह गूंथने वाली शक्ति ही कृष्ण है। वह शक्ति है क्या ?

पुनः वह परमात्मा सभी प्राणियों के अंदर एक समान निर्विकार रूप से रहते हैं। वह वस्तु कौनसी है ? जो एक पण्डित, एक मूर्ख, एक पशु, एक चाण्डाल तथा कुत्तादि जितने भी जीवधारी हैं, सबके अन्दर निर्विकार रूप से व्याप्त रही हो। थोड़ा सा ध्यान देने पर यह बात समझ में आ जाती है। हम सभी प्राणी श्वांस लेते हैं और छोड़ते हैं। यह श्वांस ही एक प्राणी के शरीर से निकलकर दूसरे प्राणी के शरीर में प्रवेश करती है और वहां से फिर आदमी या प्राणी के शरीर में। जिस तरह से सूत एक मणि से निकलकर दूसरे मणि में और फिर तीसरे मणि में। इस प्रकार यह प्राण वायु ठीक सूत का काम करती है। अतः यह प्राण ही कृष्ण है, क्योंकि इसके सिवा इस सृष्टि में कुछ नहीं है। दूसरी बात यह है कि यह प्राण वायु ही सभी प्राणियों में समान रूप से रहती है। इसके लिये एक योगी में, एक भोगी में, एक चाण्डाल में, एक पशु में और छोटे-छोटे प्राणियों में भी कोई अन्तर नहीं रहता है। अतः ईश्वर के समकक्ष या ईश्वर यह प्राण ही हुआ, इसकी उपासना करना ही ईश्वर-उपासना है। इसकी सेवा करना ही ईश्वर सेवा करना है। इसका चिंतन करना ही ईश्वर चिंतन है। इसके प्रमाणस्वरूप एक और श्लोक दिया जाता है–

प्राणो हि भगवानीश,
प्राणो विष्णु पितामहः।
प्राणो हि धारयते लोकं,
सर्वं प्राणमयं जगत् ॥

प्राण ही भगवान् है, प्राण ही ईश्वर है और प्राण ही पितामह विष्णु है। प्राण ही सारे संसार को धारण किये हुए है। सभी जगत प्राणमय है, इससे भी उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है।

इस प्रकार परमात्मा का पता तो लगा, अब आत्मा को इसके साथ कैसे मिलाया जाय। आत्मा के पहले हम उसके पहले की अवस्था को देखें। इस शरीर का राजा मन है। मनके बाद बुद्धि और बुद्धिके बाद आत्मा आती है। अतः हम अपने मन को प्राणवायु के आवागमन के साथ युक्त रखें तो हम योग-युक्त हो सकते हैं और अन्त में योग की सबसे ऊपरी भूमिका को पार कर जाएँगे। आत्मा और बुद्धि को गौण रख करके हम मन को प्राणवायु के साथ युक्त रख सकते हैं और यही होगा योग।

भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को योगस्थ होकर जो कर्म करने का उपदेश दिया था,

वह यही था कि हे अर्जुन ! तू अपने मन को प्राणवायु के साथ युक्त रखकर कर्म कर । इस प्रकार उन कर्मोंमें तेरा मन लिप्त नहीं रहेगा और सिद्धि तथा असिद्धि में तू समान भाव वाला बन जायेगा । यह समत्व योग है और मन जब प्राणवायु के साथ रहेगा तो वह इन्द्रियोंका साथ भी छोड़ देगा । नीचेके श्लोक से यह स्पष्ट होता है—

योगस्थ कुरु कर्माणि,
संगंत्यक्त्वा धनंजय ।
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा,
समत्वं योग उच्यते ॥

यह हम सभी योग के विद्यार्थी जानते हैं कि 'मनः हि मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो' इसलिये अगर मन इन्द्रियों से परे रहे तो इन्द्रियों के द्वारा हुए कर्मों का फल जीवात्मा को नहीं भोगना पड़ता है । इस अवस्था में स्थित रहकर मनुष्य संसार के सारे कर्मों को करता हुआ भी कुछ नहीं करता है । इसी को भगवान् ने 'योगः कर्मसु कौशलम्' कहा है ।

इस शरीर में जो जीवात्मा रूप में अवस्थित है वह ही मैं हूं । इन्द्रियां पराई हैं । इन्द्रियों के कर्मों के द्वारा जीवात्मा बँधता है और स्वकर्म अर्थात् आत्म-कर्म के द्वारा मुक्ति लाभ करता है । यह आत्म-कर्म ऊपर में कहे हुए कर्म को ही कहा जाता है । अर्थात् प्राण कर्म ही आत्म-कर्म है और यही कृष्ण का "स्वधर्म" । इन्द्रियों का धर्म ही "परधर्म" के नाम से कहा गया है । इसलिये इन्द्रियों का धर्म ही भय उत्पन्न करने वाला है वह "स्वधर्म" नहीं है, क्योंकि उससे जीवात्मा का बन्धन और मजबूत होता है । इसीलिये भगवान ने कहा है—

स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः

—❀ बन्धन और मोक्ष का कारण मन ❀—

आन्तरिक इन्द्रियों में मन की प्रधानता है । मानसिक क्लेशों में शोक और भय प्रधान हैं । शोक—किसी व्यतीत हुए इष्ट-नाश का होता है और भय भविष्य में होने वाली किसी हानि का । शोक और भय के सम्बन्ध में क्लेशकारक बात केवल इतनी है कि उनका चिन्तन मन को अपनी ओर खींच लेता है और मन विगत तथा अनागत इष्ट-हानि के साथ अपने को तद्रूप कर लेता है । यदि हम मन के इस दृष्टिकोण को ऐसा परिवर्तित कर दें कि मन उनमें न फँसे, उनके साथ तद्रूप न हो, तो हमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं होगा । "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।" बन्धन और मोक्ष दोनों का ही कारण मन है ।

—डा० श्री मुन्शीराम शर्मा

महात्मा यीशु की यौगिक विभूतियां

डा० श्री विजयसिंह

आध्यात्मिक अनुभूति के उत्कृष्ट शिखर पर आरोहित हो ईश प्रेरणा से यीशु सारे गलीलिया में भ्रमण करते हुए सद्धर्म का प्रचार, पाखंड का खंडन तथा नाना व्याधियों से पीड़ित आर्त जनों की सेवा अपनी आन्तरिक शक्ति से करने लगे। थोड़े ही समय में इनकी प्रसिद्धि सारे सीरिया में फैल गई। गलीलिया डैकापोलिस तथा यहूदिया व जर्दन के पार के लोगोंका जमाव सदैव यीशु को घेरे रहता था।

इन्हीं दिनों यीशु ने बारह व्यक्तियों को जगह-जगह से अपने अन्तरंग शिष्यों के रूप में चुना। इन्हें पर्वतों पर ले जाकर अलग से उपदेशित करते रहे तथा साधन सिखाते रहे।

एक बार जब वे सभी पहाड़ से उतरे तमाम भीड़ साथ हो गई। उस समय एक कुष्ठ रोगी ने आकर दण्डवत करके प्रार्थना की—प्रभु जी! आप चाहें तो हम स्वस्थ हो सकते हैं। यीशु ने अपना हाथ बढ़ाकर उसे स्पर्श किया और कहा—"मैं चाहता हूं तुम शुद्ध हो जाओ।" उसी क्षण वह रोग-मुक्त हो गया। तब यीशु ने उससे कहा—तुम धर्म-स्थानों में जाकर एक निश्चित भेंट अर्पण कर आओ।

आध्यात्मिक शक्तियों को आकर्षित करने का एकमात्र साधन सहज विश्वास है। जिन दिनों यीशु कफरनाहूम में थे, एक व्यक्ति जिसका सेवक लकवे से पीड़ित था, वह यीशु के पास आया व कहा—हे प्रभु! मेरा सेवक घर में पड़ा घोर पीड़ा सहता है। यीशु ने कहा—चलो हम अभी आते हैं उसे ठीक करने। उस परम विश्वासी व्यक्ति ने पुनः निवेदन किया—हे प्रभु! हम इतने योग्य नहीं कि आप हमारी छत के नीचे आयें। आप शब्द मात्र कह दीजिये सेवक ठीक हो जायेगा। उस व्यक्ति के अन्तःकरण की सरलता एवं विश्वास को देखकर यीशु को बड़ा हर्ष हुआ, वे बोले—जाइये, जैसा आपने विश्वास किया, वैसा ही आपके लिये पूरा हो। उसी घड़ी वह सेवक अच्छा हो गया।

किसी समय यीशु अपने शिष्य पेत्रुस के घर आये। उस समय उसकी सास भी बुखार में पीड़ित थी। यीशु ने करुणार्द्र हो उसका हाथ छुआ और वह बुखार से मुक्त हो सेवा-सत्कार करने में जुट गई।

यीशु ने अपने चारों ओर भीड़ ही भीड़ देखकर एकान्त की इच्छा से अपने शिष्यों को समुद्र द्वीप पर चलने की आज्ञा दी। तब यीशु और उनके अन्तरंग नौकारूढ़ हो चले। थोड़ी ही देर बाद सहसा समुद्र पर प्रचण्ड अंधड़ उठा, यहाँ तक कि नौका लहरों से ढकी जा रही थी। उस समय श्रमित यीशु सो रहे थे। शिष्य सभी जल समाधि की सम्भावना से घबड़ा उठे, वे सभी यीशुको जगाते हुए बोले—हे प्रभो! बचाइये, हम सभी डूब रहे हैं? यीशु

ने धिक्कारते हुए कहा—ऐ अल्पविश्वासी ! क्यों इस प्रकार भयभीत हो रहे हो ? तब वे उठे और अंधड़ एवं समुद्रको आज्ञा दी, जिससे तत्काल महाशान्ति छा गई।

यीशु ने तमाम प्रेतबाधा-पीड़ित स्त्री पुरुषों के मनोविकार को ठीक किया। एक समय एक ग्रामीण ने यीशु की शरण में आकर दीनता-पूर्वक कहा—मेरी बेटी अभी मरी है फिर भी विश्वास है कि यदि आप कृपा कर उस पर हाथ रखें तो वह जीवित हो जावेगी। यीशु उसके विश्वास को देख उसके साथ हो लिये। रास्तेमें एक स्त्रीने जो रक्त-स्राव से पीड़ित थी, पीछे से आकर यीशु के कपड़े का दामन छू ली। उसका विश्वास था कि ऐसा करने से हम ठीक हो जेंगे। महात्मा यीशु अन्तर्यामी थे, वे तत्काल मुड़कर मुस्कराते हुए बोले—बेटी ! भरोसा रखो, तुम्हारे विश्वास ने तुम्हें बचा लिया है। वह स्त्री उसी समय से ठीक हो गई। भगवती गीता में युग-चक्र, जग-चक्र, काल-चक्र के प्रणेता भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—

सत्वानुरूपा सर्वस्य,
श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो,
यच्छ्रद्धः स एव सः ॥
(गीता ३/१७)

जब यीशु उस ग्रामीण के घर पहुँचे तब वहाँ पहले ही हलचल मची थी। यीशु ने कहा—तुम सभी शांत हो जाओ, लड़की मरी नहीं, सोती है। अविश्वासी लोग उनकी बात पर हँसने लगे। यीशु ने लड़कीका हाथ पकड़ा और वह उठ बैठी। यह घटना आग की तरह चारों तरफ फैल गई।

ऐसे ही दो अंधे यीशु के पास एक बार आये और अनुनय करते हुये उनके पीछे-पीछे चले कि प्रभो ! हमारे ऊपर भी कृपा करो। यीशु ने पूछा—क्या तुमको विश्वास है कि मैं तुम्हारी आँखो में ज्योति ला सकता हूँ ? अंधों ने कहा—अवश्य ही आप सब कुछ करने में समर्थ है। तब यीशु ने उनकी आँखें छूकर कहा—तुमने जैसा विश्वास किया, वैसा ही तुम्हारे लिये हो। उन दोनों को दिखाई पड़ने लगा। यीशु ने कहा, देखो यह बात कोई न जानने पावे।

महात्मा यीशु पतितों के पाप परिणामों के भुगतान हेतु स्वयं शक्ति सम्पन्न होते हुए भी कर्म विपाक हेतु अपमान, प्रताड़ना सहते हुए अन्ततोगत्वा शूली पर चढ़े। वे दूसरों के मन को जानने वाले थे। त्रिकालज्ञ थे, वे अपने द्वारा किये गये सद्कर्म द्वारा दूसरों के क्लेशों को स्वयं अपने शरीर पर झेला करते तथा तीन रोज में भुगतान कर मृत्यु कष्ट को भोग कर पुनः पुनर्जीवित हुए। तब उन्होंने केवल अपने अन्तरङ्ग शिष्यों को दर्शन देकर प्रबोधित किया। उनके विश्वास एवं साधना सम्पदा को कृपा दृष्टि से विस्तृत कर तथा

मानव कल्याण में प्रेरित कर अन्तर्धान हो गये।

ईश्वर की कृपा-शक्ति को आकर्षण करने का सबसे सरल साधन श्रद्धा है। विश्वास ही योग शक्ति का जागरण करता है। वैसे भी साधक योगीकी रक्षा श्रद्धा माँ की तरह किया करती है।

श्रद्धामयोऽयं पुरुषो,
यो यच्छ्रद्धः स एव सः।

(गीता ३/१७)

ईश्वर स्वयं घनीभूत अपरमित विश्वास है, जो व्यक्ति जैसा विश्वास वाला होता है वह वैसा हो ही जाता है। जो श्रद्धावान है, विश्वासी है, उनमें देवताओं एवं सद्गुरु पूजन की भावना स्वयं रहा करती है। ऐसे व्यक्तियों में स्वाभाविक पवित्रता, सरलता तथा ब्रह्मचर्य अहिंसाभाव रहा करता है। ऐसे सात्विक साधक सद्गुरु शरणागत तथा एक निष्ठावान् हुआ करते हैं। इससे ही इनमें अध्यात्म जागृति एवं उच्च प्रतिष्ठा शीघ्र हुआ करती है। अतः महात्मा यीशु ने उनमें शक्ति-सञ्चार किया, जो विश्वासी थे। दुःख, व्याधि के हरण करने में भी लोगों की यीशु के प्रति अटूट निष्ठा एवं विश्वास का ही बड़ा हाथ था। महात्मा यीशु के अन्दर प्रवाहमान ईश्वर की करुणा उन लोगों पर अनवरत प्रकाशित हुई, जिन्होंने उनमें आध्यात्मिक भाव एवं विश्वास रक्खा।

परन्तु समुद्र, आंधी के प्रबल वेग को शमित करना, जल पर चलकर नाव पर आना, रोटी के कुछ टुकड़ों से पाँच-सात हजार लोगों को खिला कर तृप्त करना—ऐसे समस्त यौगिक ऐश्वर्य उनकी अपनी साधना एवं आत्म-जागृत होने का प्रमाण देते हैं।

भगवान् पतञ्जलिदेव जी ने अपने योग-दर्शन में योगियों के ऐश्वर्य के बारेमें बतलाया है। विभूतियाँ असंख्य हैं पर कुछ को ही मोटे-मोटे तौर पर निर्देशित किया गया है। यथा—

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधान जयश्च।

मनोजवित्वम्—इन्द्रिय जयी सिद्धों में अनेक सिद्धियाँ हुआ करती हैं। योगी मन के वेग वाला बन जाता है। जहाँ-जहाँ मन पहुँचता है, वहाँ-वहाँ उसका शरीर पहुँच जाता है।

विकरणभाव—वह बिना नेत्रों के देखता है और बिना कानों के सुनता है।

प्रधान जय—अर्थात् मूल प्रकृति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेना। ऐसा योगी प्रकृति के सभी विश्लेषणों को जानकर सभी कुछ कर सकने की सामर्थ्य वाला बन जाया करता है महात्मा यीशु में यौगिक सामर्थ्य थी जो समयानुकूल प्रकट हुई है। इसका विवरण ऊपर प्रमाण रूप में दिया गया है।

यौगिक प्रश्नोत्तरी

प्रश्न—परम पूज्य श्री गुरुदेवजी ! शास्त्रों में स्थान-स्थान पर श्रद्धा की महिमा गाई गई है और यह बताया गया है कि श्रद्धा के बल पर मनुष्य अपने मनोरथ को अवश्य सिद्ध कर लेता है। आप इस अबोध बालक को यह बतलाने की कृपा कीजिये कि योग में श्रद्धा का क्या स्थान है ? क्या केवल श्रद्धा के अवलम्बन मात्र से ही मनुष्य योगी बन सकता है ?

उत्तर—हाँ वत्स ! श्रद्धा का योग से अटूट सम्बन्ध है। श्रद्धा रहित व्यक्ति योग-मार्ग में एक कदम भी नहीं चल सकता। श्रद्धा के अभाव में उसके अन्दर सतोगुण का विकास ही नहीं हो सकता और जब तक सतोगुण का विकास नहीं होगा, तब तक वह योग की अन्तर्मुखि-कावों, एकाग्रावस्था और निरुद्धावस्था को प्राप्त नहीं हो सकता। सतोगुण को दैवी-सम्पत्ति कहा गया है और उसका फल बताते हुये भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में अपने मुखारविन्द से कहा है—

दैवीसम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता।

अर्थात् दैवी सम्पत्ति मनुष्य को मुक्ति दिलाने वाली होती है और आसुरी सम्पत्ति उसे संसार चक्र में बांधे रखती है। अतः योग और मोक्ष की प्राप्ति के लिये श्रद्धा ही सबसे बड़ा साधन है।

श्रद्धा की परिभाषा एवं उसका फल बताते हुये प्रातः स्मरणीय भगवान व्यासदेवजी महाराज ने अपने भाष्य में इस प्रकार लिखा है—

श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः सा हि कल्याणी जननीव योगिनं पाति।

अर्थात् चित्त की प्रसन्नता का नाम श्रद्धा है। वह कल्याणकारी होती है और माता की तरह योगी की रक्षा करती है।

प्रश्न—पूज्य गुरुदेव ! कृपा करके इस रहस्य को खोलकर समझा दीजिये कि श्रद्धा किस प्रकार से योगी की रक्षा करती है और कैसे उसे योग-मार्ग में आगे बढ़ाती है ?

उत्तर—हाँ पुत्र ! सुनो—यही बात मैं विस्तारपूर्वक समझा रहा हूँ। योग-दर्शन में भगवान पतञ्जलिदेव जी महाराज ने योग-प्रतीति के दो प्रकार बतलाये हैं—भव-प्रत्यय और उपाय प्रत्यय। इनमें विदेहावस्था को प्राप्त हुए देवताओं और प्रकृतिलीन योगियों को भव-प्रत्यय हुआ करता है, अर्थात् जो पूर्व जन्म में योग साधन करते-करते शरीर बन्धन से छूटकर महाविदेहा स्थिति और प्रकृतिलय तक की स्थिति प्राप्त कर चुके हों, किन्तु

कैवल्यपद की प्राप्ति होने से पूर्व ही जिनकी मृत्यु हो गई हो उन योगियोंको पुनः योगिकुल में जन्म ग्रहण करना पड़ता है। तब उनको अपने पूर्वजन्म के योगाभ्यास विषयक संस्कारों के प्रभाव से अपनी स्थिति का तत्काल ज्ञान हो जाता है। वे बिना किसी प्रकार की साधना के ही निर्बीज समाधि को प्राप्त कर लेते हैं। उनकी निर्बीज समाधि उपाय जन्य नहीं है। अतः उसका नाम भव-प्रत्यय है, किन्तु सामान्य जनोंको उपाय-प्रत्ययसे योग-प्रीति हुआ करती है अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेकर ही वे पूर्ण योगी बन सकते हैं। उपाय प्रत्यय में श्रद्धा की गणना सर्वप्रथम की गई है। देखो—योग-दर्शन के समाधिपाद का २०वाँ सूत्र।

श्रद्धा वीर्य स्मृति समाधि प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।

अर्थात् भव प्रत्यय से इतर दूसरे सभी साधकों को श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रमसे योग-सिद्ध हुआ करता है। सूत्र का अर्थ स्पष्ट करते हुए भगवान् व्यासदेव जी महाराज अपने भाष्य में लिखते हैं—

तस्य हि श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते। समुपजातवीर्यस्य स्मृतिरुप तिष्ठते। स्मृत्युपस्थाने प्रज्ञाविवेकोपावर्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति।

श्रद्धावान व्यक्ति को स्वतः ही वीर्य अर्थात् साधन के प्रति उत्साह एवं बल की प्राप्ति हो जाती है। श्रद्धा और वीर्य इन दोनोंका संयोग हो जाने से साधक के अन्दर स्मृति उपस्थान हो जाता है। स्मृति उपस्थान से उसे प्रज्ञा-विवेक प्राप्त हो जाता है, जिससे वह वस्तु की यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्न—प्रभो! स्मृतिरुपस्थान का क्या अभिप्राय है? यह मैं नहीं समझ पा रहा हूँ।

उत्तर—हे पुत्र! सुनो—

अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः।

अर्थात् अनुभव किये गये विषयों का मन में ज्यों का त्यों बना रहना, उसे कभी न भूलना और इस प्रकार जन्म-जन्मान्तर का ज्ञान बना रहना स्मृतिरुपस्थान कहलाता है।

स्मृतिरुपस्थान हो जाने से साधक को स्फुट प्रज्ञालोक की प्राप्ति हो जाती है, उसकी बुद्धि का खजाना खुल जाता है, तब उसकी बुद्धि सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। उसकी बुद्धि में जो भी आता है वह सब सत्य ही होता है। इस प्रकार प्रज्ञा-विवेक हो जाने से योगी पूर्ण तत्वदर्शी बन जाता है। उसकी स्थिति ऐसी बन जाती है जिसके लिये कहा गया है—

प्रज्ञाविवेकमासाद्य,
न शोचति न कांक्षति।
भूमिष्ठानिव शैलस्थः,
सर्वान् प्राज्ञोऽनुपश्यति॥

अर्थात् प्रज्ञा-विवेक हो जाने से योगी न तो किसी बात के लिये शोक करता है और न किसी प्रकार की आकांक्षा ही रखता है। वह

हमारी कामनायें और श्री प्रभु जी

✽ श्री केशवदेव उपाध्याय

आध्यात्मिक पथ का प्रत्येक साधक इस तथ्य से पूर्णतया परिचित होगा कि उसके सद्गुरुदेव भगवान उसकी कोई-कोई कामना तो तत्काल पूरा कर दिया करते हैं और कोई-कोई कामना अनेक बार प्रार्थना करने पर भी पूर्ण नहीं करते। आखिर ऐसा वे क्यों करते हैं? यह लेख इसी तथ्य पर प्रकाश डालने का एक प्रयत्न है।

हर माता-पिता अपने बच्चों को प्यार करते हैं और अपना प्यार जताने के लिये बच्चों की हर कामना पूरी करने की कोशिश करते हैं। बच्चे की किसी कामना को यदि पूरा करना वे उचित नहीं समझते हैं तो भी बच्चे की जिद् करने पर वे कभी-कभी उसे पूरा कर दिया करते हैं। इसका फल यह होता है कि बच्चा जिद्दी बन जाता है और कभी-कभी अपनी इस आदत के कारण महान् अनुशासनहीन हो जाता है। अपनी इस आदत की चरमावस्था में बालक अपने मां-बाप के काबू से बाहर होकर शराबी-कबाबी, गुण्डा, बदमाश और चोर-डाकू तक बन जाता है। क्या हम चाहेंगे कि हमारा लाड़ला बेटा ऐसा बने? हमारे विचार से कोई भी माता-पिता ऐसा नहीं चाहेंगे कि उनका प्यारा बेटा अनुशासनहीन अथवा चोर-बदमाश बने। ठीक है बच्चे का अपना कुछ अधिकार है, परन्तु बड़े होने के नाते माता-पिता के भी अपने कुछ विशेष अधिकार हैं और इसी के साथ उसके कुछ विशेष कर्तव्य भी हैं। इन कर्तव्यों तथा अधिकारों का प्रयोग करते समय मां-बाप

(पिछले पृष्ठ का शेष)

सांसारिकजनों को इस प्रकार देखता है, जैसे किसी उच्च पर्वत-शिखर पर बैठा हुआ व्यक्ति भूमि पर बैठे हुए लोगों को देखता है।

इस प्रकार श्रद्धा ही उपाय प्रत्यय (साधन योग) का मूल और योगकुशलता का रहस्य है। श्रद्धावान व्यक्ति अपनी श्रद्धा के बल पर क्रमशः वीर्य, स्मृति एवं प्रज्ञा-विवेक को प्राप्त करता हुआ सम्प्रज्ञात योगकी उच्चतम स्थिति को प्राप्त कर लेता है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी अर्जुन को यह आदेश दिया है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं,
तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिं,
न चिरेणाधि गच्छति॥

—卐卐—

अपने बच्चे के सुख-दुख और उसके उज्वल भविष्य का ध्यान अवश्य रखते हैं।

हम सब प्रभु की सन्तान हैं। वह परम-पिता भी अपनी सन्तान को ठीक उसी प्रकार प्यार करता है; जैसे हम अपने बच्चों को प्यार करते हैं। या यों कह दिया जाय कि प्रभु अपने बच्चों को माता-पिता की तुलना में कई सौ गुना ज्यादा प्यार करते हैं तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। ऐसे प्राण-प्यारे प्रभु से हमने कोई प्रार्थना की और प्रभु ने उसे पूरा नहीं किया तो हमें तो ऐसा प्रतीत होता है कि घट-घट की जानने वाले प्रभु जी हमारी उस कामना को पूरा करना उचित नहीं समझते हैं, क्योंकि जिस कामना के पूर्ण होनेसे हम योग-भ्रष्ट, साधना-भ्रष्ट हो जावेंगे वे अच्छी प्रकार से जानते हैं। एक उदाहरण द्वारा यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा। योगी साधक श्रीनृसिंह मूर्ति जी हमारे दादा गुरुदेव श्री महाप्रभु जी के कृपा पात्र शिष्य रहे हैं। आज से कुछ वर्ष पूर्व उनकी जीवन ज्योति महाप्रभु जी की चरण-ज्योति में विलीन हो गई। हमारे आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान् अपने मुखारविन्द से बतलाया करते हैं कि अपनी एक कामना की पूर्ति के लिये उन्होंने महाप्रभु जी से अनेक बार प्रार्थना की। श्री महाप्रभुजी ने उन्हें स्पष्ट उत्तर तो नहीं दिया परन्तु उनकी वह कामना भी पूर्ण नहीं की। बार-बार श्रीचरणों में प्रार्थना के बाद भी अपनी कामना पूर्ण न होने पर उन्होंने कामना पूर्ति का दूसरा रास्ता ढूंढ निकाला। एक शक्तिपीठ में जाकर घोर तपस्या (साधना) करने लगे। (वह स्थान जहाँ जगत-जननी, शङ्कर-प्रिया पार्वती के शरीरांश दक्ष विध्वंस के समय, भगवान शङ्कर द्वारा पार्वती को पितृ गृह से अपने धाम लाते समय गिर गये थे, शक्तिपीठ कहलाते हैं और भगवान् शङ्कर जी का वरदान है कि ऐसे शक्तिपीठों पर की गई साधना अवश्य फलवती होती है)। उनकी साधना वहाँ पूर्ण हो गई, परन्तु उनकी वह कामना पूर्ण नहीं हो पाई। वे बड़े आश्चर्य में थे कि हमारी मनोकामना शक्तिपीठ की तपस्या के बाद भी पूर्ण क्यों नहीं हुई। उनकी कामना पूर्ति न होने का एकमात्र कारण श्री महाप्रभु जी की कृपा ही थी, जैसा कि श्रीनृसिंह मूर्ति जी की एक शिष्या ने बयान किया था। आंध्र की महारानी श्री नृसिंह मूर्ति जी की कृपा-पात्र शिष्या रही है। उस समय जब श्री नृसिंह मूर्ति जी शक्तिपीठ में अनुष्ठान कर रहे थे, वह कावेरी मठ के श्री शंकराचार्य जी के पास तथा कुछ शङ्का-समाधान के लिए गईं। उनके पास हमारे दादा गुरुदेव श्री महाप्रभुजी का एक छोटा स्वरूप भी था।

उचित अभिवादन के पश्चात् महारानी ने महाप्रभु जी का स्वरूप दिखलाते हुए शंकराचार्य जी से प्रश्न किया, "प्रभो! क्या आप बतलाने की कृपा करेंगे कि ये कौन महापुरुष

है ?" शङ्कराचार्य जी ने एकटक स्वरूप को देखा और स्पष्ट शब्दों में कहा, "नारायण स्वयं।" महारानी ने फिर निवेदन किया कि हे प्रभो ! हमारे गुरुदेव भगवान् श्री नृसिंह मूर्ति की एक शक्तिपीठ में अपनी मनोकामना पूर्ति के लिये एक अनुष्ठान कर रहे हैं। अनुष्ठान सकुशल समाप्त होने पर उनकी मनोकामना पूर्ण होगी कि नहीं। श्री शङ्कराचार्य जी ने कुछ क्षण मौन रहने के बाद उत्तर दिया, बेटी ! उनका अनुष्ठान तो निर्विघ्न समाप्त हो जायगा, परन्तु उनकी वह कामना जिसके लिये वे अनुष्ठान कर रहे हैं, पूर्ण नहीं होगी। शङ्कराचार्य जी ने स्थिति को और स्पष्ट करते हुए कहा कि, उस कामना सिद्धि से तुम्हारे गुरुदेव जी की आध्यात्मिक प्रगति में अन्तराय पैदा होने का भय है। अतः उनके गुरुदेव भगवान् की इच्छा है कि, उनकी वह कामना पूरी न हो। उन्होंने महाप्रभुजी के स्वरूप की तरफ इशारा करते हुए कहा कि कि इनकी बिना इच्छा के इनके शिष्य की कोई कामना न तो कभी पूर्ण हुई है, और न भविष्य में भी कभी होगी।

अपने आराध्य श्री सद्गुरुदेव भगवान् के दरबार की एक घटना से यह रहस्य बिल्कुल स्पष्ट हो जायेगा, इसी भावको मनोगत करके उस घटनाक्रम का वर्णन किया जा रहा है। प्राणीमात्र के भाग्य विधाता श्री सद्गुरुदेव भगवान् का जन्म दिन पुनीतपर्व बड़ी ही उत्सुकता और प्रेमसे पवित्र योगाश्रम की सिद्ध गुफा पर मनाया गया। उत्सव समाप्ति पर सभी लोगोंने अपने प्राण प्यारे गुरुदेव भगवान् की आज्ञा लेकर अपने निवास स्थान को जाना आरम्भ कर दिया था। मैं भी श्रीगुरु-आज्ञा प्राप्त करने को श्रीचरणों तक पहुँचा। उस समय हमारे एक गुरु-भाई आज्ञा की प्रार्थना कर रहे थे। प्रभुजी ने आदेश दिया, लल्ला ! अभी दो दिन रुक जाओ फिर चले जाना। मेरे आदरणीय गुरु-भाई ने पुनः निवेदन किया कि प्रभुजी ! गृहस्थी के सभी कार्य बिगड़ जायेंगे, सभी कार्य मुझे ही संभालने हैं, कृपया मुझे गुरुआज्ञा प्रदान करने की कृपा की जाय। एक क्षण बाद श्रीमुख ने मेरे गुरु-भाई को आदेश दिया, 'लल्ला ! तुझे गृहस्थी संभालनी है तथा मुझे तुम्हें सम्भालना है। अतः मेरी राय है कि तुम दो दिन अपने गुरुधाम् में और निवास करो।' उस गुरु-भाई ने तो यह मान ही लिया कि दो दिन आश्रम पर निवास करना ही मंगलमय है। साथ ही आज्ञा प्राप्त करने गये हमारे सभी गुरु भाई, बहनोंने समझ लिया कि प्रभु उनकी वही इच्छा या कामना पूर्ण करते हैं, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनका कल्याण छिपा रहता है।

अतः अब हमारी कोई कामना पूर्ण न हो तो हमें साफ समझ लेना चाहिए कि वह परमपिता उसे पूर्ण करना हमारे लिए उचित या आवश्यक नहीं समझता और ऐसे अवसर पर खिन्न या दुःखी होने के बजाय हमें उस परमपिता को धन्यवाद देना चाहिए कि हे प्रभु ! आपने हमारी मनोकामना को पूर्ण न करके मुझे किसी महान् अहित (अन्तराय) से बचा लिया।

यह क्या ?

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

स्थान—हिमगिरि की कन्दरा | समय—सन्ध्या

मनुदेव अकेले बैठे हैं। उनके नेत्रों के समक्ष अपने जीवन के चित्रपट की एक-एक झाँकी गुजर रही है। उन्हें वे स्मृतियाँ उभर आती हैं कि जब तक मैंने भक्तियोग-साधना के पथ पर पग नहीं रखा था, मैं संसार के धन्धों में ही व्यस्त रहता था, तब मैं कितना अपने आपको भ्रमवश सुखी मानता था। मुझे पता नहीं चलता था कि सूर्य कब निकला और कब अस्त हो गया। विश्व की इस रमणीय कमनीय माया में मैं अपने आपको भूल चुका था। मुझे इस बात का विचार तक भी नहीं आता था कि यह जो कुछ मैं कर रहा हूँ यह सब निरर्थक है। यह दशा मेरी ३५ वर्ष तक बनी रही। विषयों के रास्तों में ही मैं अपने अधिकांश जीवन को बिताता रहा।

समय ने आकर मुझे ठोकर मारी और मेरे पूर्व पुण्य कोई जाग उठे—सन्त मण्डली में मेरा आना जाना स्वाभाविक हो गया। वहाँ के शान्त-कान्त वातावरण ने मुझे बहुत ही प्रभावित किया। श्री गुरुदेवजी की प्राप्ति हो गई। नाम मन्त्र भी मिल गया, साधना भी चली। आन्तरिक नजारे भी कई देखे। चित्त को परम शान्ति मिली, परन्तु फिर भी महाकाल के तूफान का एक प्रबल झोंका आया। मैं साधना के अहंकार के कारण भक्ति पथ से कहीं दूर जा गिरा। माया की मोहिनी शक्ति ने मुझ पर पुनः अधिकार कर लिया। सुना था कि—

मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः

(गीता ३-४२)

मन की सीमा से बुद्धि देवी का धाम कहीं ऊँचा है। उसीकी शरण लेनेका संकल्प किया, परन्तु मेरे स्वभाव से मिली हुई चञ्चलता ने मुझे वहाँ तक पहुँचने नहीं दिया। तो अब उधर ही चलूँ, अपनी दुर्दशा का अधःपतन का कारण बुद्धि देवी से पूछूँ।

मनुदेव बुद्धिदेवी के द्वार पर

मनुदेव परम श्रद्धासे दण्डवत प्रणाम करता है और बुद्धिदेवी जी के आदेश से उठ खड़ा होता है।

बुद्धि देवी—क्यों मनुदेव जी! क्या हाल है आपका? कहिये क्या कुछ लेना चाहेंगे?

मनुदेव—महारानी! कुछ भी नहीं, इस समय मेरे गले से कुछ भी नहीं उतरेगा। मैं अत्यन्त उद्विग्न हूँ। मेरी आप बीती का आप को ज्ञान है ही।

बुद्धिदेवी—पिछले दिनों यहाँ शारदा माई थी, उससे विदित हुआ कि तुम दुःखी हो। गुरु उपदेश पाकर भी तुम अशांत ही बने रहे?

मनुदेव—मंगलमयी देवी! यह सब सत्य

है कि मैंने गुरु-मन्त्र धारण किया। थोड़ी बहुत साधना में सफलता भी प्राप्त की, परन्तु वह सब कुछ दूध का उबाल ही बनकर रह गया। आप ही मेरी नाड़ी-परीक्षा कर सकती है। मुझे वह मार्मिक उपदेश दे सकती हैं, जिनसे मैं शान्त चित्त हो जाऊँ।

बुद्धिदेवी—ऐ प्यारे मनु ! तुम्हें अभी यह समझना पड़ेगा कि गुरु-धारण करना किसे कहते हैं ?

मनुदेव—गुरु-धारण करना क्या होता है ? ऐ भगवती बुद्धिदेवी जी !

बुद्धिदेवी—गुरुदेव तो सम्पूर्ण गुणों के आगार होते हैं। उनका एक-एक सद्गुण उनके कार्यों में झलकता है। शिष्य का धर्म होता है कि वह उनके शुभ आचरणों को अपने जीवन में रखने की पूरी कोशिश करे। उनकी सेवा आज्ञा और मौज को शिरोधार्य करे। उनकी मौज अनुकूल ही अपने को बनावें। उनके देव दुर्लभ एवं असाधारण गुणों को तपस्या, श्रद्धा, विश्वास और तत्परता के साथ अपने जीवन में उतारना ही "गुरुधारण" करना कहते हैं। नाम मन्त्र लेकर उसका उत्सुकता-वश अभ्यास करने से साधक की साधना पूरी नहीं हो जाती। गुरु-भक्ति में सन्त सद्गुरु जी के वचनों का उल्लंघन करने से जीव की बड़ी भारी हानि होती है, उसे अपने परम तत्व से पूर्ण शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अपने मालिक की प्रसन्नता को प्राप्त करना ही गुरु-भक्ति का पूर्णत्व है।

इसमें श्री सद्गुरु जी के चरणारविन्दों में अपने मन को एवं बुद्धि को समर्पित करना होता है। जब तक जीव की सब कार्यवाही अपने मन-बुद्धि के इशारों पर होती है, उसे गुरु-भक्त कहना असम्भव है। वह उस सद्गुरु की कृपा उतार नहीं सकती।

गुरु-भक्ति के महाकुण्ड में सब इन्द्रियाँ प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार इन सभी को एक-एक करके आहुति दे दी जाती है, तब जाकर उस कुण्ड की ज्वालाओं में से आनन्द और शान्ति की निरुपम परिमल उठकर उसके रोम-रोम में परिव्याप्त हो जाती है।

गुरु-मन्त्र की साधना दो चार दिनों, सप्ताहों व महीनों तक सीमित नहीं है। यह अवधि रहित होती है, इसे तो जीवन के अंतिम श्वांस तक चलाना चाहिए। भगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र जी क्या सुन्दर आश्वासन देते हैं—

अनन्यचेताः सततं यो मां,
स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ,
नित्ययुक्तस्य योगिनः ।।
—गीता ८/१४

जो मेरा अनन्य भक्त मुझे नित्य निरन्तर स्मरण करता है उस नित्य युक्त योगी को मेरे दर्शन सुलभ है।

मनु—सुरत शब्द योग की साधना रहस्य है बुद्धिदेवी ! आज मैं आपके अनुग्रह से जान पाया हूँ। मुझे पहिले इतना विशद ज्ञान न

था। न मैं इतनी लगन से साधना ही किया करता था। यह तो श्रीगुरुदेव की जो पतित पावन हैं, अकारण कृपा से मुझे भजनाभ्यास में उनका भरपूर हाथ मिला और मेरे अन्दर उत्साह एवं साहस की ज्योति निरन्तर जलती रही।

बुद्धिदेवी—हे मनु! तुझे बड़ी आवश्यकता है। नित्य और सत्य वस्तु आत्मा से मिलाप करने की। तू निरा चपल और चंचल है। हर घड़ी तुझे चञ्चलता ही सूझती है।

इस चञ्चलता को दूर करने के लिये योग, दर्शनकार श्री पतञ्जलि जी ने एक ही उपाय बताया है—

अभ्यास वैराग्याभ्यास तन्निरोधः।

इस मन को स्थिर एवं निश्चल करना हो तो अभ्यास और वैराग्य की उत्कट साधना करनी होगी। चपलता एक ऐसा रोग है जिसेस मन की नाड़ी को पकड़ा ही नहीं जा सकता। इसके लिये परिपूर्ण सर्व समर्थ सन्त गुरुदेव की ही टेक (सहारा) लेना होगा। वे ही एक अनुपम वैद्यराज हैं; मानसिक रोगों का उपचार करने के लिये। जैसे श्री रामचरित मानस में गोस्वामी तुलसीदास जी निर्देश करते हैं—

सद्गुरु वैद्य वचन बिस्वासा।
संजम यह न विषय कर आसा॥

सद्गुरुजी के बतलाये हुए सुरत शब्द योग अभ्यास की विधि ही एकमात्र अमोघ औषधि है। इस चपल मन को सुशिक्षित करने की और इसमें पथ्य यानी परहेज क्या है कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषयों की साधक आकांक्षा ही न करे। संसार के इन सुन्दर भोगों के बाग में लहलहाते हुये विषयों के पौधों को स्वच्छन्दतापूर्वक न झकझोरे। इतना सदुपयोग आवश्यक हो उतना उन पौधों से ले लें।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ही बड़े सुभावने पौधे हैं जिन्हें देखकर यह मन मोहित हो जाता है और अपना धर्म कर्म भूल जाता है, यही तो इसका नटखटपन है। अतएव मन की प्रकृति के जानकार परम संत श्री कबीरदास जी को स्पष्ट कहना पड़ा कि—

यह तो गति है अटपटी, सटपट लखे न कोय,
जो मन की खटपट मिटे, चटपट दरसन होय।

यही निराश है, एक सच्चे साधक शिष्य की सफलता इसी बात में है कि वह संसार की कामना न करे, अपितु संसार उसकी चाह करे। शिष्य की महिमा को श्रीमद्भगवद्गीता इन शब्दों में गाती है—

तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे।

—गीता २-७०

गुरुमुख वह है जिसकी कामना संसार के सब भोगैश्वर्य करते हों और "स शान्तिमाप्नोति न कामकामी"। वह गुरुमुख ही शान्ति प्राप्त कर लेता है मनमुख नहीं, जिसे कामनाओं को पूरा करने की इच्छायें हर समय घेरे रहती हैं।

मनुदेव—धन्य हैं आप और सचमुच ही प्रशंसनीय है आपका यह कार्य । आपके ज्ञान-विज्ञान और भक्तिमय सदुपदेश को सुनकर मैं पुलकित हो गया हूँ । आपके इन सारपूर्ण एवं परम उपयोगी वचनों के बल से मेरा सम्पूर्ण आलस्य, प्रमाद, मिथ्याभिमान और आत्म-प्रशंसा के दाग धुल गये हैं । अब मैं अविद्या के गहन तिमिर से निकलकर ज्ञान के प्रकाश में आ गया हूँ । आपने मुझे ज्ञान दृष्टि देकर मेरा अतिशय उपकार किया है । इसके लिये मैं अन्तस्तल से आपका आजीवन आभारी बना रहूँगा ।

बुद्धिदेवी—वत्स ! मेरा आभार जतलाने की कोई आवश्यकता नहीं है । तू भूला है, वस्तुतः अपने उन सद्गुरुदेव जी का जिन्होंने निष्कारण अनुकम्पा करके तुझे नाम मन्त्र प्रदान किया था, तेरे अन्तर्मानस की गहराई में उन्होंने मन्त्रबीज तो डाल दिया, किन्तु तूने उसका पूरा आदर न किया । उस बीज को तूने थोड़ा-बहुत पानी और खाद भी दिया, बदले में तूने उस आत्मिक आनन्द की हल्की-हल्की झलकियाँ भी देखीं, परन्तु फिर तू सांसारिक धंधों में इतना रम गया और मिथ्या अहंकार में ऐसा उलझा कि तुझे अन्त में ये शब्द कहने पड़े कि "हैं ! यह क्या ?" वह दिव्यानन्द का स्रोत जो तेरी मानस भूमि से फूटा था और थोड़ी दूर तक वह भी चला था । पिछले जन्मों के काम और माया के संस्कारों ने उभर कर उसे मार्ग में ही सुखा दिया ।

मनुदेव—हे अन्तर्जगत की अधिष्ठात्री ! कितनी पुण्यवती यह घड़ी है जो मुझे अपने परमोपास्य देव सद्गुरुदेव जी की प्रेरणा से आपके पुनीत चरणों में पहुँचने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और आपने भी मुझ पर अतिशय करुणा करके भक्तियोग के सम्बन्ध में विशद ज्ञान प्रदान किया । अब मुझे योग साधन में प्रवृत्त होने के लिये किन धर्मों का परिपालन करना चाहिये, इस पर भी प्रकाश डालने की अनुकम्पा करें ।

इस ध्यान योग में स्थित होकर असाधारण आनन्द का पान करने के लिये योग-दर्शनकार महर्षि पतंजलिजी के वचन हैं—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।

—साधन पाद १४

अर्थात् साधक बहुत समय तक, निरन्तर और श्रद्धा-विश्वासपूर्वक अपना कर्त्तव्य समझ कर साधना करे तो उसके चित्त की चञ्चलता निवृत्त हो जायेगी ।

हे मनु ! अजपा जाप, अनाहत ध्वनि और सहज समाधि में जिनकी गति अच्छी हो जाती है उन्हें इस अभ्यास में उन्नति करते हुए अपने इष्टदेव का भी साक्षात्कार होना संभव है ।

मनुदेव—बड़ा कठिन मार्ग है भगवती बुद्धि-देवी जी ! मुझ जैसा अति चंचल स्वभाव से

ही माया का लोभी ऐसे विकट पथ पर कैसे चलेगा ?

बुद्धिदेवी—ऐ मन ! अब तू अपनेको अकेला न जान। परिपूर्ण सद्गुरुदेव जी का तू शिष्य है। तेरा कर्तव्य अब इतना ही रह गया है कि तू उनके पवित्र वचनों की शीतल छाया में कदम बढ़ाता चल। तू अपने गुरुदेव जी को मानव रूप में देखकर इस भ्रम में न पड़ जाना कि वह तो मनुष्य है, साकार है, तनुधारी है, इनकी उपासनासे मेरा क्या बनेगा ? न, ऐसा विचार स्वप्न में भी न लाना। सद्गुरु ही स्वयं ब्रह्म होते हैं। वह सच्चिदानन्द घन परमात्मा ही सद्गुरु के बाने में इस घोर कलिकाल के अन्दर भूमण्डल पर अपनी जन्म-जन्म से बिछुड़ी हुई आत्माओं को जगाने, उन्हें अपने रूप को प्रत्यक्ष कराने और अपने में ही मिलाने के लिये अवतरित हुए हैं।

भव-सागर में डूबते हुए जीवों को सुरत शब्द योग जैसी अमूल्य नाव देकर सुख-दुःखादि द्वन्द्वों से बचा लेते हैं। मैंने तुझे श्री गुरुदेव जी के बतलाये हुए नाम-मन्त्र के जाप की श्रेष्ठता को बतला दिया है। अब तेरा कर्तव्य है कि तू इन सब बातों को क्रियान्वित करता हुआ परम शान्ति को प्राप्त कर ले। इस प्रकार बुद्धिदेवी जी से हितकर पावन वचन सुनकर मनुदेव ने उन्हें विनयपूर्वक प्रणाम किया और वहां से विदा हुए।

हर एक मनुष्य का धर्म है कि वह अपने मन को गुरुमुख बनाये। गुरु आज्ञा, गुरु सेवा गुरु-पूजन, गुरु आराधन और गुरु दर्शन इन पांचों अङ्गों का तत्परता से पालन करे। ऐसा करने से अवश्य ही उसके मन का चाञ्चल्य काफूर हो जायेगा।

卐卐

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति का मन निश्चयात्मक होता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह दृढ़ निर्णय लेने में समर्थ होता है। कमजोर शरीर में दुर्बल मन दर्द से कराह रहा होता है। जरा सी विपरीत हवा चली कि वह घबरा उठता है। उसके निर्णय डावांडोल होते हैं। उसमें आत्म-विश्वास की भारी कमी होती है। अपने चारों ओर वह कल्पित कठिनाइयां खड़ी कर लेता है, जिनसे वह और अधिक बेचैन होता है।

शास्त्रों में कहा है, शरीर को रथ समझो। शरीररूपी रथ आत्मा का साधन है। इस रथमें बैठकर जीवात्मा को अपनी जीवन-यात्रा पूर्ण करनी है। साधन ठीक हो तो रथस्वामी जीवात्मा अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जायेगा। पाठकगण ! जीवन के महाभारत में आपका यह शरीर-रथ कर्ण की तरह कहीं आपको भी धोखा न दे।

महापुरुषों के जीवन प्रसंग से—

प्रार्थना में उपस्थित

आश्रम के प्रांगण में रोज सुबह-शाम बापू के सान्निध्य में प्रार्थना होती थी। सब आश्रमवासी प्रार्थना में हाजिर रहें, ऐसा बापू का आग्रह था। प्रातः प्रार्थना में जिन्हें नींद आती थी, उन्हें बापू का आदेश था कि वे खड़े-खड़े प्रार्थना करें, जिससे उनकी नींद खुल जाय। प्रार्थना में सबकी हाजिरी ली जाती थी। मगन भाई हाजिरी लेते थे। जो हाजिर होते वे 'ॐ' बोलते थे। सबसे पहले बापू का नाम लिया जाता था।

एक बार मगन भाई ने हाजिरी लेने के बाद कहा कि पन्द्रह लोग हाजिर हैं। विनोबा ने तुरन्त खड़े होकर कहा—"प्रार्थना में पन्द्रह नहीं, चौदह लोग हाजिर हैं।" मगन भाई ने फिर से गिना तो पन्द्रह ही हाजिर थे। बापू ने कहा—"विनोबा गणितज्ञ है, जरा फिर से गिन लो।" मगन भाई ने फिर एक बार गिना, पन्द्रह ही थे। फिर बापू ने पूछा—"क्यों विनोबा! क्या रहस्य है?"

विनोबा ने कहा—"बापू जी सदेह तो १५ लोग हाजिर हैं, परन्तु जिनको हाजिरी लेनी है, उनका मन हाजिरी लेने में होने से वे देह से प्रार्थना में हाजिर होते हुए भी, मन से तो गैर-हाजिर हैं न? इसलिये मैंने कहा कि—'प्रार्थना में पन्द्रह नहीं, चौदह हाजिर हैं,' परन्तु बापू, ऐसी हाजिरी लेने का क्या अर्थ है?"

बापू ने कहा— "एक तो वे काम करते हैं तो कर्म ही प्रार्थना होगी। दूसरा जब अपना नाम लिया जाता है तब हम 'ॐ' से जवाब देते हैं। उसका अर्थ इतना ही है कि हम उस समय जागृत होकर भगवान से प्रार्थना करते हैं कि "प्रभु! तुम्हारे दरबार में मैं मन सहित हाजिर हूँ।"

यह प्रसंग सुनाते समय विनोबा कहते हैं कि "चिन्तन, मनन, प्रधान ईश्वर-आराधना में तमोगुण का डर है। तमोगुण में जड़ता, आलस्य, बेजवाबदारी और स्वच्छन्दता आती है। इसलिये प्रार्थना में निरन्तर जागृति चाहिये। स्वामी विवेकानन्द का एक प्रसंग है— प्रार्थना में एक बार उन्होंने जब अपने शिष्यों को नहीं देखा, तब से उन्होंने एक नियम बनाया कि गैर-हाजिर शिष्यों को अपनी भिक्षा खुद मांगनी होगी। लोगों के समक्ष जाने में साधक को जागृत रहना पड़ता है। इस तरह से उन्होंने शिष्यों के तमोगुण को दूर किया। प्रार्थना में तमोगुण न रहे, इसकी सावधानी रखनी पड़ती है।"

आनन्द और शान्ति कहां है?

— ब्रह्मचारी श्री जगन्नाथ

परम ज्ञानियों का अनुभव है और विवेकी विरक्त भी ऐसा ही कुछ कहते हैं कि सुख न तो खाने-पीने, सोने-जागने में है, न मांस, मैथुन, मदिरा सेवनमें और न ही भोग-विलास में, परन्तु नाना प्रकार के भोगों से परिव्याप्त जगत् में भी सुख नहीं है, तो भला सुख-शान्ति-आनन्द है कहाँ? आइये इसकी छान-बीन करें, खोजें इसी तथ्य को।

क्या रोग दुःख का रूप नहीं है? किस देहधारी को रोग नहीं होता? राजा से लेकर रंक तक की सभी कामनायें पूरी नहीं हो पातीं। उनका प्रायः आघात होता रहता है, वे टूटती रहती हैं। क्या यह दुःख का शीत-उष्ण किसे नहीं तपाते-सताते, भूख-प्यास से किसका पीछा छूट गया है? सम्बन्धियों का वियोग किसे शोकातुर नहीं करता? क्या ये दुःखके रूप नहीं हैं? ये और ऐसी ही अनेक रोग यदि किसी प्राणी को नहीं होते तो वह अवश्य ही सुखी कहा जा सकता है, किन्तु संसार में क्या कोई ऐसे एक व्यक्ति को भी दिखा सकता है? जो नित्य देखने में आता है वह तो यह है कि प्रत्येक प्राणी ताप-त्रय से संतप्त दीखता है और वह इस त्रास से त्राण पाने का ही प्रयास करता है, परन्तु उसके सर्वथा विपरीत एक ऐसी ठोस स्थिति को खोजता है, जहाँ सुख, शान्ति, आनन्द मिल सकें। वे तात्कालिक, क्षणिक, अस्थायी न हों। वे अक्षय-अनन्त तथा शाश्वत हों, क्या यह ही यथार्थता नहीं है?

जीवात्मा अपने इस 'काम्य-शक्ति' को अथवा इससे वरिष्ठ अमृतमय 'परमानन्द-तत्व' को प्राप्त कर सकता है। मानव देह प्राप्त करके ही ऐसी सम्भावना के कारण ही इस मानव शरीर को इतनी पूजा प्राप्त है और देहधारियों में वरिष्ठ 'देव-तुल्य' माना गया है। विपरीत आचरण करने पर इसे 'दानव' संज्ञा दे दी जाती है। परन्तु देखने में बहुधा यही आता है कि देह के द्वारा वास्तविक लक्ष्य 'परमानन्द' की प्राप्ति तो होती नहीं, वरन् यह जीव क्लेश—परस्पर में फँस जाता है और अल्पज्ञता के कारण उस परमानन्द की खोज में उस विपरीत पथ पर चल पड़ता है जो इसे परमानन्द की ओर न ले जाकर दुःखों के दल-दल में जा फँसाता है। जिस तत्व से यह शरीर बना है, इन्द्रियां प्राण आदि बने हैं उसका नाम 'प्रकृति' है। उसका स्वभाव ही है मोह, अज्ञान उत्पन्न करना। अतः 'परमानन्द' का अभिलाषी यह अल्पज्ञ जीव पांच भौतिक देहेन्द्रियों के संयोग से मोहान्ध होकर पथ-भ्रष्ट हो जाया करता है। अतः इसके दुःखों का मूल कारण यह 'अज्ञान'

है, जिसके कारण यह पथ भ्रष्ट हो जाया करता है। संसार के विज्ञजनों का अनुभव, जो उनके ग्रन्थों में पढ़ने को और मौखिक रूप से आजकल जो सुनने को मिलता है वह यही कुछ है कि कष्टों के मूल कारण को खोजकर फिर उस मूल कारण का परित्याग कर उसे नष्ट कर देने पर दुःखों का अन्तिम भाव 'मृत्युभय' तक मिट जाता है। परन्तु मानव की आन्तरिक कामना तो 'दुःखाभावमात्र' से पूर्ण हो जाने वाली नहीं है, वह एतावन्मात्र प्राप्ति के लिये 'शम, दम, तितिक्षा, उपरति, तप, त्याग, ब्रह्मचर्यादि साधना परम्परा में नहीं पड़ता, वह तो 'भावात्मक, सरलतापूर्ण, स्थिर, स्थिति' चाहता है और तदर्थ ही वह अहर्निश भाग-दौड़ करता है।

अब देखना यह है कि इस जगत् में कितने ऐसे सौभाग्यशाली हैं जिन्हें वह अक्षय-सुख 'परमानन्द' मिल पाया है? सांख्यकार कहते हैं—'न कुत्रापि कोऽपि सुखीति', क्योंकि जड़ चेतन के संयोग से बने इस जड़ता बहुल जगत् में तो 'परमानन्द परम शान्ति' जैसे वरिष्ठ तत्व दीखते नहीं। ऐसी साक्षी उन क्रान्तदर्शियों की है जिन्होंने इस ब्रह्माण्ड के अणु-परमाणु तक को उधेड़ कर खोज डाला था, वे तो 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' का उद्घोष लगा गये हैं, पर साथ ही यह भी कह गये हैं कि वह रसीला 'मधुर तत्व' है तो इस जगती में, पर है इसके पीछे—स्थूल से आवृत्ति अति गहराई में। जिसे देखना और पाना ही यह स्थूल को चीर कर इस कठोर आवरण के नीचे बैठ कर तीव्र यौगिक दृष्टि से देखने पर उसे मिलता है। योगियों को यह मिला है—प्रत्येक पुरुषार्थी को यह मिलता है। उस सच्चिदानन्द-स्वरूप के आध्यात्मिक श्रेय पथ को तो सृष्टि निर्माण के उषाकाल में उस 'विश्वगुरु' ने लोरियों के समान मातृतमा वैदिक ऋचाओं द्वारा इस अमृत पुत्र पर अवतरित कर दिया था, अवगत करा दिया था। काल प्रभाव से यह अल्पज्ञ मानव उन लोरियों को भूलने लगा। आंशिक रूप से यह भ्रान्त होने लगा, तब फिर आप्तजनों ने इस मनुष्य को भ्रान्ति से बचने के लिए अपनी अनुभूतियों को पुनः इनके समक्ष रखा, जिससे यह मुमुक्षु मानव अपनी बुद्धि को 'परिशुद्ध' करके योग-क्षेम के निश्चित सुपथ पर चल सके—पथ पर छा गये हुए को या तिमिर को यौगिक-साधना द्वारा दूर करता हुआ अध्यात्म दिव्य-ज्योति से आलोकित पथ पर अग्रसर होकर अपने अज्ञान को दूर कर दे और अभीष्ट परमानन्द-मयी परम शान्ति को पाकर अमृत रूप को प्राप्त कर ले।

योग-साधन द्वारा जिन्होंने उस परमानन्द-मय परमधाम को प्राप्त किया, उनका ही यह कथन है कि जैसे अनित्य, अपावन, दुःखद और जड़ पदार्थ को (देह को) नित्य, शुद्ध, सुखद और चेतन मान बैठना अज्ञान है। भ्रम

है, धोखा है, परन्तु इससे बड़ा भ्रम धोखा है, यह मान लेना कि विषयों के उपभोग से कामनाओं को शान्त किया जा सकता है। वस्तुतः ये विषय और उनके उपभोग की कामना तथा उपभोग के साधन इन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि और देह एवं 'दुःख' के कारण—दुःखों का मूल है। अतः प्राकृतिक विकारों में सुख बुद्धि से आसक्त होना, इन्हें पकड़ना दुःख को पकड़ना है और इसके विपरीत त्रिगुणात्मक प्रकृति के स्वामी ज्ञान, कीर्ति, शान्ति आदि समग्र ऐश्वर्य—दिव्य ऐश्वर्यों (भग) के परम शान्ति और परमानन्द के अधिपति बन जाना, नहीं-नहीं सच्चिदानन्दमय आनन्दकन्द भगवान का हाथ पकड़ लेना ही जीवात्मा का अभीष्ट है। अतः वेद से लेकर समग्र ग्रन्थ-समुदाय मुक्त-कण्ठ से कह रहा है कि आनन्द और शान्ति ही नहीं, अपितु परमानन्द और परम शान्ति आदि दिव्यता का अक्षय-स्रोत वह भगवान पुरुषोत्तम-पुरुष विशेष ही है—वह भूमा ही परम सुख स्वरूप है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि परम शान्ति परमानन्द आदि समग्र दिव्य ऐश्वर्य समुदाय ईश्वर-परमेश्वर भूमा ब्रह्म या भगवान् में ही अवस्थित है—अन्यत्र प्रकृति में तो सर्वथा नहीं है, तब उसके विकृत रूपोंमें वह आनन्द कैसे हो सकता है? वह सर्वगत प्रभु—जड़ प्रकृति तथा उसके विकारों महान् अहंकार, पंच-तन्मात्रा (गंध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द), प्राण, दशेन्द्रिय, पंच-महाभूत तथा इनसे उत्पन्न शरीरादि में व्याप्त हो रहा है। इतना ही नहीं, वरन् सच्चिदानन्द स्वरूप में इन अनन्त ब्रह्माण्डों को निज-कुक्षि में धारण करता हुआ सर्वत्र व्याप्त है। अतः उसकी रचना इस जगत् में से भी मानव को जो आनन्द मिलता है, वह उस परमेश्वर की व्याप्ति के कारण ही है, जैसे इक्षु से मिलने वाली माधुरी इक्षु के कण-कण में व्याप्त है—भरी है तभी सर्वत्र प्राप्त होती है। अतः मनुष्य इस भ्रम को अपने अन्तःकरण से दूर-सर्वथा दूर कर दे कि जगत् के किसी पदार्थ में विषयों के सेवन में कोई स्वतन्त्र सुख है। प्राकृतिक जगत् रजस्-तमस् प्रधान जड़ तथा विषाद-बहुल है।

अयं लोकः प्रियतमः

—अथर्ववेद ५.३०/१७

स्वाध्यायशीलों की दृष्टि से अथर्ववेद गत मन्त्र का यह वचन भी कदाचित् आया हो? इतने पदों का अर्थ स्पष्ट है—'यह लोक-प्रिय ही नहीं अपितु प्रियतम है'। इसके आधार पर यह तर्क उठाना सर्वथा असंगत है कि इस आगम-वचन के समक्ष योग की यह स्थापना 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' असत्य प्रतीत होती है—निराधार सर्वथा मनगढ़न्त। हाँ, ऐसा आप बड़ी प्रसन्नता से कह सकते हैं, किन्तु इस लोक में क्या अविवेकी नहीं है—बाहुल्य तो उन्हीं का है। विलासप्रिय, मैथुन, मांस-मदिरा मीन, मुद्रा सेवी, असुख, असुर राक्षसादि

कहाँ बसते हैं, क्या स्वर्गलोक में ? यदि वे भी धरावासी ही हैं तो पूर्वोक्त वचन उन्हींके मुख से वेद ने कहलाया है, स्वयं वेद ही जब दस्यु और आर्यों का वास इस भूतल पर मानता है—देवासुर संग्राम—के दृश्य उपस्थित करता है और दृढ़ता से आदेश देता है कि—हे मानवो ! भीतर अन्तःकरणमें हो अथवा बाहर मानव-देहधारी सभी असुरों का वीरता से दृढ़ता से संहार तथा उन्मूलन कर दो तो वेद का उक्त वचन भी दर्शाता है कि यह संसार बहुत व्यक्तियों को अति प्रिय भी भासता है, इसीलिये मन्त्र में विवेकी-अविवेकी कुछ भी नहीं कहा, क्योंकि यह साधारण बुद्धिकी बात है कि जब मांस, मदिरा, मैथुन, मार-काट आदि राक्षसीय आचरण सर्व साधारण तक को अप्रिय है—ऐसे आचरण से वे घृणा करते हैं तो विवेकी देवों को स्वप्न तक में ऐसा आचरण घृणित और विष्ठावत् त्याज्य ही लगेगा ।

परन्तु एक दूसरी दृष्टि भी है—जो योगी 'सर्वखल्वाभूमा' का दर्शन संसार के रूप प्रति रूप में पा चुके हैं, वे अपने इष्टदेव विश्वकर्मा की कृति को कला की दृष्टि से देखकर भी ऐसा कह सकते हैं—'अयं लोकः प्रियतमः', समदर्शी को बिना किसी भेद-भावके सर्वत्र उस 'भूमाः' का दर्शन ही होता है । तभी तो गीता में भी कहा है—'शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः' । अतः योग की स्थापना में दोष नहीं दीखता, क्योंकि—'विवेकी' को ही यह जगत् स्वानुभूति के आधार पर ही दुःख बहुल दीखता है ।

बस इसके आगे किसी तर्क-युक्ति प्रमाण की आवश्यकता रहती दीखती ही नहीं । हाँ, स्वानुभूति करना शेष रह जाता है । यह व्यक्ति का अपना कार्य है, उसे यह श्रम-साध्य पुरुषार्थ स्वयं करना पड़ेगा, यदि परमानन्द का उपभोग करना है अन्यथा जहाँ पड़े हैं वहीं पड़े रहने में सन्तोष करना ही पड़ेगा ।

इस विचार मन्थन से नवनीत समसार यह हस्तगत होता है—आदित्य तथा भूतल-वासियों के मध्य में आ पड़ा एक सघन कृष्ण मेघ—जैसे भानु के प्राणप्रद प्रकाश को रुद्ध कर देता है, एवमेव विषादमय, कठोरतम, सघन-त्रिगुण का घन मध्य में आ पड़ा पर्दा, विश्वात्मा-सूर्यसे अहर्निश बरस रही जीवात्मा को अनुप्राणित रखने वाली शान्त ज्योति, शक्ति, शान्ति, परमानन्द रस पूर्ण रश्मियोंको अवरुद्ध कर रही, उस तक पहुँचने ही नहीं देती । इतना ही नहीं वरन् स्वभावतः इस पर्दे से सदा निःसरित होती रहने वाली सन्ताप-विषादमयी रश्मियां निकल-निकलकर विषैले बाणोंके समान आत्मा को बींधती रहती हैं । ये न बींध पावें और विश्वात्मा से सतत् प्राप्त होती रहने वाली परमानन्द की अमृत वर्षा निरावृत होकर हमें स्नान कराती रहे, एतदर्थ हमें 'विवेक वैराग्य अभ्यास' का निधारावज्र हाथ में अनिवार्यतः लेना ही होगा—आज ले या फिर लेना तो होगा ही, उसीसे यह सघन-आवरण विदीर्ण होता है तथा भविष्य में भी उसी वज्र से विदीर्ण होगा ।

योगेश्वर चरित्र माला

योगी श्री कृष्णानन्द जी

श्री सद्गुरुदेव जी द्वारा

हरिद्वार एवं ऋषिकेश जैसे पावन-स्थलों की यात्रा करने वाले प्रायः सभी तीर्थ-यात्री स्वर्गाश्रम गीता भवन एवं परमार्थ-निकेतन जैसे प्रेरणाप्रद स्थलों से परिचित हैं। ऐसे महानुभावों को कदाचित् ध्यान होगा कि परमार्थ-निकेतन एवं गीता भवन के मध्य एक छोटा सा आश्रम स्थित है। उस आश्रम के संस्थापक एक संन्यासी महात्मा हैं, उन्हीं का चरित्र मैं यहाँ लिखने जा रहा हूँ। वे महात्मा ही योगी कृष्णानन्दजी हैं। अब तो वे संन्यासी हो गये हैं। इस आश्रम को ग्रहण करने से पूर्व इन्होंने योग-दीक्षा उन्हीं योग योगेश्वर प्रभु श्री रामलाल जी महाराज से प्राप्त की, जो मेरे भी सद्गुरु महाराज हैं। इस संबन्धानुसार यह मेरे गुरु-भाई होते हैं, अतः इनके विषय की कई अद्भुत घटनाओं का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है।

भाई कृष्णानन्द जी का पूर्व नाम श्री रतनलाल था। इनका जन्म पवित्र अग्रवाल घराने में, मुजफ्फरनगर नामक नगर में हुआ था। रतनलाल जी घरेलू झगड़ों से विरक्त होकर भ्रमणार्थ ऋषिकेश आते थे। इनके घर में कथा-कीर्तन, सत्संग, महात्माओं के सदुपदेश समय समय पर हुआ करते थे। कुछ पूर्व-संस्कार इस प्रकार के थे कि इनके मनमें तीव्र वैराग्य उत्पन्न होगया और इन्हें घरेलू झंझटों का सदा के लिए त्याग ही उचित लगा। ऐसा निश्चय कर उत्तराखंड की यात्रा करने के लिए चले गये। संसार छोड़कर चले थे, अतः जीवन के परम लक्ष्य को प्राप्त करने का मार्ग दिखाने वाले किसी परिपूर्ण योगाचार्य की आवश्यकता अनुभव करने लगे।

उत्तराखण्ड की यात्रासे विचरते-विचरते रतनलाल जी फिर ऋषिकेश आ पहुँचे। अब इनके मन में यह तीव्र लगन लग गई थी कि उनको किसी परिपूर्ण सद्गुरुदेव जी के दर्शन प्राप्त हों। इसी प्रकार के योगाचार्यों की खोज में इनका यत्र-तत्र भ्रमण चलता रहा। बड़े-बड़े मण्डलेश्वरों एवं मठाधीशों के दर्शन भी इनके मन को शान्ति-लाभ न करा सके।

उपदेष्टा तो सभी थे, किन्तु किसी ऐसे योगैश्वर्य सम्पन्न सद्गुरुदेव के दर्शन नहीं मिले, जो—"दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगैश्वर्यम्"—को प्रतिज्ञापूर्वक कहता हुआ अनुभूति-मार्ग में प्रविष्ट करा सकता। इतना घूमने पर भी जब इन्हें मनोनुकूल योगिराज के दर्शन प्राप्त नहीं हो सके, तो इन्हें स्वाभाविक ही निराशा होने लगी। अब उनका यह विचार बनने लगा था—ऋषिकेश में उनको कोई पथ-प्रदर्शक नहीं मिलेगा। अतः अब घर ही क्यों नहीं लौट चलें? व्यर्थ भगवा-वस्त्र पहिने साधु बन भिक्षाटन करने से क्या लाभ? इससे तो घर पर व्यापार आदि सांसारिक कार्य करते हुए ही जीवन व्यतीत कर लेंगे।

एक दिन इसी विचार में निमग्न, निराश हुए रतनलाल जी रेल्वे स्टेशन की ओर जा रहे। अन्ततः घर लौट जाने का ही निश्चय उन्होंने कर लिया था। मार्गमें अचानक उनके नेत्रों ने एक स्थान पर लिखा देखा—श्री योग साधन आश्रम। चलते-चलते पैर रुक गये, मानो हठात् किसी ने रोक लिया हो। यह जगदात्मा भी बिल्कुल निराश करके ही शायद प्राणी को अभीष्ट प्राप्त कराता है। योग-साधन आश्रम शब्द पढ़ते ही इनको लगा मानो जो खोज रहे थे, वह मिल गया। आश्रम के भीतर प्रवेश करके सब कुछ ज्ञात करने की तीव्र इच्छा इनके मन में जाग उठी। उन्हें पूर्ण विश्वास सा हो रहा था कि अवश्य ही कोई परिपूर्ण योगिराज इस आश्रममें निवास करते हैं। ऐसा विचार करके भाई रतनलाल जी ने आश्रम में धीरे-धीरे प्रवेश किया। सामने ही आराम कुर्सी पर विराजमान श्री प्रभुजी के दर्शन कर इनको लगा—जिसकी खोज थी, वह मिल गये हैं। अन्य आश्रमों से भिन्न इस प्रकार के पवित्र वातावरण वाले आश्रम में प्रवेश करने का रतनलाल जी का यह प्रथम अवसर था। सायंकाल लगभग पाँच बजेका समय था, यह आश्रम का सत्संग का समय रहा करता था। इस कारण श्री प्रभुजी के आसपास बैठे सत्संगी भाई बहिन ध्यानादि की कुछ चर्चायें कर रहे थे। दूसरी ओर एक भाई श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में बैठकर दूर नगरों में रहने वाले सत्संगियों के आये पत्रों को पढ़कर सुना रहे थे। उन पत्रों में बड़े-बड़े ध्यानानुभव लिखे थे। यह सब देख सुनकर रतनलाल जी का हृदय श्री प्रभु जी के पावन चरण-कमलों की ओर और भी अधिक आकर्षित हुआ, उन्होंने अत्यन्त विनम्र भाव से श्री प्रभुजी से प्रार्थना की—प्रभुजी! आप करुणासागर हैं। कृपा करके मुझे भी शरण में ले लीजिये।

भाई रतनलाल जी की होनहार अच्छी थी। इनकी इस विनम्र प्रार्थना पर श्रीप्रभु जी मुस्करा पड़े और मुखारविन्द से स्वीकृत सूचक "अच्छा" शब्द निकल गया। दूसरे

बिना साधारण पत्र-पुष्प स्वीकार कर अनन्त शक्ति सम्पन्न श्री प्रभुजी ने भाई रतनलाल को शक्तिपात-दीक्षा दी। जिसके फलस्वरूप उनमें बड़ी तीव्रगति से शक्ति संचरित हुई। श्रीप्रभुजी ने उन्हें कुण्डलिनी-योग का उपदेश देकर मूलाधार कमल में श्री गणपति जी का ध्यान करने का आदेश दिया। अब भाई रतनलाल जी श्री प्रभुजी के आदेश के अनुसार अपना ध्यानाभ्यास करने लग गये और उत्तरोत्तर प्रगति करने लगे। जैसे-जैसे ध्यानाभ्यास परिपक्व होता गया, वैसे-वैसे ही मूलाधार कमल के प्रत्यक्ष दर्शन उनको बने रहने लगे। कुछ ही समय में भाई रतनलाल जी का आश्चर्यजनक रूप से कायाकल्प ही हो गया। वह हर समय ध्यानस्थ रहने लगे। पान खाने और बीड़ी पीने का इनका विशेष व्यसन भी ध्यानकी उच्चतम स्थिति में स्वतः ही छूट गया। उन्हें क्षण क्षण में मूलाधार कमल के दर्शन निरन्तर बने रहने लगे। सारांश यह कि संसार भूल गया, केवल ध्यान में दीखने वाले की स्मृति रहने लगी। भाई रतनलाल जी की ऐसी उच्च-स्थिति इतनी शीघ्र बन गई कि सारे आश्रमवासी आश्चर्य करने लगे। उनके मुख-मण्डल पर हर समय एक विशेष तेज विराजमान रहने लगा। ध्यान की उच्चतम स्थिति में उनको हिमालय के अनेक सिद्धों के दर्शन एवं कई प्रकार के वरदान प्राप्त हुए। यह बड़े ही आश्चर्य का विषय था कि दो मास पूर्व का एक साधारण गृहस्थ व्यक्ति, इतने अल्प समय में ही अत्यन्त उच्चकोटि का सन्त बन गया था। आश्रमवासी प्रायः देखा करते थे—ध्यानस्थ रतनलाल जी के शरीर पर से निस्संकोच बिच्छू व सर्प गुजर जाते हैं, परन्तु उनको किसी प्रकार की भी चेतना नहीं हो रही है।

चक्कू की तलाश

लीलाप्रिय आनन्दकन्द श्री प्रभुजी यदाकदा अपने बालकों का मान बढ़ाने के लिए खेल किया करते थे। खेल-खेल में ही सर्व साधारण के समक्ष अपने बालकों की अद्भुत शक्तियों का प्रदर्शन कर दिया करते थे। फलस्वरूप प्रत्येक व्यक्ति जान लेता था कि इन बालकों के भीतर किसी महती शक्ति का प्रवेश है। एक बार श्री प्रभु जी ने एक ऐसा ही खिलवाड़ किया।

श्री प्रभुजी मध्याह्न-कालमें भोजन करके उठे थे। भाई रतनलाल जी ध्यान से उठकर दीवार के एक कोने को पकड़े, इस आशा में खड़े थे कि श्री प्रभुजी के आने पर चरणारविन्दों में नमस्कार करूँगा। वह उसी द्वार मार्ग में खड़े थे, जिससे प्रभुजी अन्दर जाया करते थे। आज श्री प्रभु जी को खिलवाड़ सूझा—अतः नित्य वाले द्वार से न जाकर दूसरे ही द्वार से धीरे से अन्दर जाकर अपने सिंहासन पर बैठ गये। श्री प्रभुजी ने ऐसा

इसलिये किया था कि जिससे रतनलाल जी उसको देख न पाएं और यही समझते रहें कि अभी श्री प्रभुजी भोजन ही कर रहे होंगे। किन्तु ऐसा नहीं हो सका, जैसे ही श्री प्रभुजी सिंहासन पर विराजमान हुए त्योंही अकस्मात् रतनलाल जी दीवार से हटकर श्री प्रभु जी के चरण-कमलों में पड़े दिखाई दिए। वहां पर बैठे सभी सत्संगी-भाइयों ने इस आश्चर्य को देखा कि किसी अव्यक्त शक्ति ने उनके मन को घुमाकर श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों की ओर आकर्षित कर था। सभी आश्चर्य में पड़ गये और अत्यन्त विनयपूर्वक श्री प्रभु जी के चरण-कमलों में जिज्ञासा प्रकट करने लगे—प्रभु जी ! रतनलाल जी को यह बोध किस प्रकार हुआ ?

श्री प्रभुजी ने कहा—रतनलाल में यह सामर्थ्य है कि वह इस प्रकार की सब बातों को जान सके। श्री प्रभुजी के मुखारविन्द से यह वचन निकलने पर उन सभी के मन में यह लालसा उत्पन्न हुई कि वे कोई ऐसी विलक्षण घटना देखें जिससे इस कथन की पुष्टि होती हो।

अन्तर्यामी श्री प्रभुजी उन लोगों के मन के भाव समझ गये और एक ऐसा ही अवसर उपस्थित हो गया। आश्रम का एक चाकू खो गया था। कई घण्टे से उसकी तलाश की जा रही थी, परन्तु मिल ही नहीं रहा था। सहसा उन सभी आश्रमवासियों के मन में यह अभिलाषा हुई कि रतनलालजी अपनी ध्यान दृष्टि से उस चाकू के स्थान की तलाश करें। उन सबके मानस-अभिप्राय को समझकर श्री प्रभुजी थोड़ा हंसे और भाई रतनलाल जी से कहने लगे—अरे रतन ! जब इन सबकी यही इच्छा है, तो तू उस चाकू की तलाश कर ही दे। श्री प्रभुजी की आज्ञा पाते ही रतनलाल जी उठे। नेत्र बन्द किये हुए ही उस स्थान पर पहुँचे जहाँ पर वह चाकू पड़ा हुआ था। आँखें बन्द ही किये उन्होंने वह चाकू उठाकर सबको दिखा दिया। इस घटना से वे अचरज में पड़े उन सभी लोगों ने यह जान लिया कि भाई रतनलालजी में कितनी बड़ी शक्ति है।

अस्तु, इस प्रकार के अभ्यास की घटनायें भी घटती रही हैं। अपने अन्दर इस प्रकार के दिव्य प्रकाश को देखकर भाई रतनलाल का अभ्यास और वैराग्य उत्तरोत्तर बढ़ता ही गया। अपने ध्यानाभ्यास में उन्होंने कई प्रकार के दिव्य-मन्त्र, गुप्त क्रियायें और दिव्य औषधियां को सिद्धों के द्वारा प्राप्त किया था। उनकी निर्विचार समाधि की निर्मलता में उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। साधक को प्रारम्भमें जो अनुभव होते हैं उनमें यत्किंचित् अपने मन का भी समावेश रहा करता है। अतः उस काल के अनुभव पूर्णतः सत्य नहीं हुआ करते हैं। उत्तरोत्तर अभ्यास के पश्चात् ही अनुभवों में पूर्ण सत्यता आ जाती है।

निजानुभूति की एक अद्भुत घटना

उन दिनों आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने भाई रतनलाल जी को और मुझे ऋषिकेश आश्रम में रहने का आदेश दिया था। इसी काल में श्री प्रभुजी ने मुझे खेचरी-मुद्रा का अभ्यास कराना आरम्भ किया। इस मुद्रा का अभ्यास करने के लिये आवश्यक तीन प्रकार की क्रियाएँ श्री प्रभुजी ने मुझे दीं—दोहन, चालन और छेदन। सर्वप्रथम मैंने काफी दिनों तक जिह्वा के दोहन का अभ्यास किया था, तत्पश्चात् चालन-क्रिया का भी अभ्यास पर्याप्त समय तक चला। दोहन और चालन का अभ्यास यथावत् हो चुकने पर श्री प्रभुजी ने मेरी जिह्वा के अधोभाग के तन्तु का छेदन बांस की ताड़ी से कर दिया और निरन्तर इसका अभ्यास करने का आदेश दे दिया। श्री प्रभु जी के आदेशानुसार मैं शनैः शनैः जिह्वा छेदन उसी प्रकार बांस की ताड़ी से करता रहा, उसके फलस्वरूप मेरी जिह्वा बढ़ती गई।

कुछ दिन बाद श्री प्रभुजी कुछ काल को एकान्तवास के उद्देश्य से कनखल चले गये और वहाँ जाकर छोटे अखाड़े के बगीचे में ठहरे। भाई रतनलाल जी और मैं श्री प्रभुजी के आदेशानुसार योग साधन-आश्रम ऋषिकेश में ही रहकर नियमित ध्यानाभ्यास किया करते थे। यद्यपि श्री प्रभुजी की उपस्थिति में ही मेरा खेचरी-मुद्रा का अभ्यास काफी बढ़ गया था, तथापि खेचरी-मुद्रा हठयोग की एक कठिन क्रिया है एवं छेदन-काल में कुछ कष्ट भी होता रहता है। अतः मैं ध्यानाभ्यास में इतनी देर नहीं बैठ पाता, जितना कि भाई रतनलाल जी बैठ जाया करते थे। फिर भी थोड़ी-बहुत नियमित दिनचर्या चलती ही थी। एक दिन अभ्यास में बैठने पर मुझे खेचरी-मुद्रा के विलक्षण गुणों का अनुभव हुआ एवं खेचरी-सिद्धि कर लेने वाले सिद्धों के दर्शन भी हुए। वे सभी सिद्धगण आकाश-गमन करते हुए दीखते थे, उनका स्वरूप बड़ा ही दिव्य एवं तेजस्वी था। उनमें से कुछ सिद्ध जल की सतह पर इस प्रकार चल रहे थे, मानो उनके चरणों का स्पर्श जल से हो ही न रहा हो। यह सभी महापुरुष चिरंजीवी प्रतीत होते थे, क्योंकि उनके शरीर हजारों वर्ष पूर्व के प्रतीत होते थे। इन सिद्धजनों के दर्शन करते-करते आकाश-वाणी के समान मुझे एक आवाज सुनाई दी—देखो, यह सब महापुरुष खेचर-पुरुष हैं अर्थात् खेचरी-मुद्रा की सिद्धि के प्रभाव से सिद्ध हो गये हैं। श्री प्रभुजी के कनखल चले जाने के पश्चात् मेरा खेचरी-अभ्यास कुछ कम हो गया था। अतः इन सब सिद्धों के दर्शन करते हुए ही मुझे आनन्दकन्द श्री प्रभु जी की वाणी सुनाई दी। मानो वे कह रहे हैं—तुमने खेचरी का अभ्यास छोड़ दिया, अन्यथा तुम भी इसी श्रेणी के व्यक्ति बन गये होते। श्री प्रभुजी के ऐसे वचन सुनकर मुझे मन ही मन स्वयं पर

बड़ा रोष आया और विचार करने लगा—मैंने यह कितनी भारी भूल की है। यदि श्री प्रभुजी के आदेश का अक्षरशः पालन किया होता, तो अवश्य ही अब तक खेचरी सिद्ध हो जानी चाहिए थी। यह तो बड़ी भारी भूल हो गई। मन की इस प्रकार की क्षोभित-स्थिति में ही जिह्वा का छेदन करना प्रारम्भ किया। कांस की ताड़ी से यह छेदन बहुत धीरे-धीरे बनता है। अतः अकस्मात् मेरे मन में विचार आया—कांस की ताड़ीसे तो छेदन विशेष बन नहीं रहा है, बड़ी धीरे-धीरे छेदन हो पायेगा। हजामत बनाने के ब्लेड से छेदन क्यों न कर लिया जाय, उससे छेदन एकदम हो जायेगा। ऐसा विचार आने पर मैंने शीघ्रही उसे कार्यान्वित करने का विचार कर लिया और एक ब्लेड लेकर बड़े साहस के साथ अपनी जिह्वा के नीचे का तन्तु काफी वेग से काट दिया। वेदना तो हुई, परन्तु शीघ्र ही खेचरी सिद्ध कर लेने की धुनमें मैं फिर दुबारा ब्लेड चलाने का विचार कर ही रहा था कि अकस्मात् अनुभव हुआ कि श्री प्रभुजी बड़ी रोष-मुद्रा में ताड़नात्मक दृष्टि से मुझे देख रहे हैं और एकदम ब्लेड छीनकर चले गये।

मैं अपने इस विचित्र अनुभव पर विचार कर ही रहा था कि श्री प्रभुजी के रुष्ट होने का क्या कारण हो सकता है कि सामने से भागते हुए भाई रतनलाल जी आते दीखे, मैं और भी अधिक आश्चर्य में पड़ गया। भाई रतनलाल जी अपनी समाधि से जल्दी ही उठ कर भागे आये थे और आते ही एकदम मुझसे कहने लगे—अरे भाई जी! आपने यह क्या कर लिया है? परम कृपानिधि श्री प्रभुजी ने अभी मुझे आदेश दिया है—जाओ, चन्द्रमोहन को देखो। वह यह क्या कर रहा है? अन्यथा लोग कहा करेंगे कि योगियों के बच्चे गूंगे हुआ करते हैं। जिस समय भाई रतनलालजी मेरे पास पहुँचे थे, उस समय मेरे मुख से पर्याप्त रक्त बह रहा था और मैं बोल सकने में सर्वथा असमर्थ था। वह भी सहसा निश्चय न कर सके कि ऐसी स्थिति में किया क्या जाये। फलस्वरूप ही इन्हीं विचारों में मग्न भाई रतनलाल जी ध्यानस्थ हो गये। ध्यान में ही आनन्दकन्द श्री प्रभुजी ने उन्हें एक स्थान दिखलाया, जहाँ पर एक जड़ी लगी हुई थी। उस जड़ी की ओर संकेत करते हुए श्रीप्रभु जी ने उन्हें आज्ञा दी—तुम इस स्थान पर आकर यह जड़ी उखाड़ कर ले जाओ। इस जड़ी को घोटकर इसके जल के गरारे कराओ, रक्त बहना शीघ्र ही रुक जायगा। भाई रतनलाल जी ने श्री प्रभुजी की इस आज्ञा का पूर्णतः पालन किया। वैसा करने से मेरी जिह्वा का घाव बहुत शीघ्र ठीक हो गया। इस घटना के बाद जिस समय मैं श्री प्रभुजी के दर्शनार्थ नागथल गया तब उन्होंने आज्ञा दी—तू अब जिह्वा का छेदन करके कभी भी खेचरी नहीं करना।

नारी के लिए योग-साधना

✽ श्री डा॰ विजयशङ्कर उपाध्याय

ऋग्वेद वैज्ञानिक सिद्धान्तों और प्रयोगों पर आधारित किया है। आदिकाल से लेकर आज तक योग का सिद्धान्त यह है कि प्रत्येक नर-नारी अपने जीवन को सुखी बनाने के लिए स्वयं प्रयास करें, "सुख एवं आनन्द योग में ही विद्यमान है।"

ऋग्वेद में भी मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य के लिये योग का वर्णन मिलता है।

योग का अर्थ है—जोड़। अर्थात् मानव जीव और ब्रह्म का मेल ही योग है।

दूसरे शब्दों में "चित्तवृत्ति निरोधः योगः" अर्थात् मन की चंचलता को रोकना, इन्द्रियों को एकाग्रचित्त करना ही योग है।

कहा भी गया है कि "योगः कर्मसु कौशलम्" अर्थात् योग अपने कार्यों में कुशलता लाने का प्रमुख साधन है अथवा कार्यों में कुशलता प्राप्त करना ही योग है।

योग के उद्देश्य—(१) इन्द्रियों को संयमित करना, (२) कर्मों को शुद्ध करना और (३) परमात्मासे आदान-प्रदानका सम्बन्ध स्थापित करना।

मन चंचल, बलवान एवं दृढ़ है, इसको संयम में करना, आँधी को वश में करने से कहीं अधिक कठिन है। परन्तु लगातार योगाभ्यास से यह सम्भव है।

योगासनों द्वारा शरीर को स्वस्थ एवं पुष्ट रखते हैं। शरीर के सभी अंगों व तन्त्रों का सुव्यवस्थित सञ्चालन करते हैं।

योग के द्वारा ही मानव आन्तरिक एवं बहिरंग आत्मज्ञान को प्राप्त कर साक्षात् रूप

(पृष्ठ २२ का शेष)

इस प्रकार निरन्तर अभ्यास करते हुए भाई रामलाल जी की स्थिति उच्च से उच्चतर होती गई। हर समय उन्हें पूर्ण वैराग्यके भाव बने रहने लगे। श्री प्रभुजी के चरण-कमलों में पूर्ण निष्ठा रखते हुए कुछ दिनों बाद उन्होंने संन्यासाश्रम ग्रहण कर लिया। इसका कारण था कि प्रायः उनके बन्धु-बान्धव आकर उनसे बार-बार घर लौट चलने का आग्रह किया करते थे और एक बार जबरदस्ती करके उन्हें घर पकड़ कर भी ले गये थे। इस झंझट से सर्वदा को मुक्त होने के लिए उन्होंने संन्यास-आश्रम में दीक्षित हो जाना ही उचित समझा था। संन्यास-आश्रम का पवित्र नाम स्वामी कृष्णानन्द जी है। इतस्ततः भ्रमण करने के पश्चात् अब पुण्यतोया भागीरथी के पावन-तट पर उन्होंने एक आश्रम बनाकर निवास करना प्रारम्भ कर दिया है।

। प्रभु —

परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। जिस प्रकार स्वर्ण को आग में तपाने से मैल छोड़ देता है, निखर जाता है, वैसे ही योग के द्वारा आत्मा कर्म वासनाओं से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है।

आत्म-शुद्धि के लिए आवश्यक है कि 'जब तक सारा शरीर प्रसन्नचित्त नहीं हो जाता, विचार पिघल कर गद्गद् नहीं हो जाता, आनंद के आँसू छलकने नहीं लगते, भावनाओं में आत्म-विभोर नहीं हो जाता तब तक शुद्धि के लिए कोई सम्भावना नहीं होती।'

"योगासन द्वारा स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, स्वास्थ्य से प्रसन्नता आती है और प्रसन्नता अत्यन्त निखार एवं सुन्दरता लाती है।"

योगासन क्रिया के द्वारा सभी लोग अपने आप ही शक्ति को प्राप्त कर सकते हैं। इससे स्वास्थ्य एवं यौवनावस्था को स्थायी रूप से रोक सकते हैं और तान्त्रिक तनाव को दूर किया जा सकता है।

सभी माता एवं बहनों के लिये योगासन करना उपयुक्त होता है। चाहे वे निरोगी हों या रोगी, स्वयं इस क्रिया के द्वारा रोग को समूल नष्ट कर स्वास्थ्य एवं दीर्घायु को प्राप्त कर सकती हैं। कई प्रकार के आसन एवं मुद्रायें होती हैं, जो बुढ़ापा और मृत्यु को अपने पास भी नहीं आने देतीं। जो लोग जितनी अधिक साधना करते हैं—वे उतना ही अधिक आयु प्राप्त कर सकते हैं।

योगासन करने से मस्तिष्क का विकास होता है, स्मरण शक्ति बढ़ती है, मानसिक थकावट नहीं आती, मनमें सदैव प्रसन्नता की अनुभूति रहती है। इन्द्रियों पर नियन्त्रण होता है, चरित्रका विकास एवं मन शान्त रहता है।

"योग के द्वारा मानव रोगी है तो निरोग तथा निरोगी है तो स्वास्थ्य एवं दीर्घायु को प्राप्त करता है।"

स्थान—योगासन के लिए उपयुक्त एकान्त स्थान की आवश्यकता होती है। जो स्वच्छ एवं हवादार वातावरण में होना चाहिये, जिससे बाह्य रूप से किसी भी प्रकार का प्रभाव न हो सके।

भोजन—सात्विक शाकाहारी, हल्का, सुपाच्य भोजन ही उपयुक्त होता है। जैसे—दूध, फल, दलिया, फल का रस, हरी सब्जी का रस आदि। "भोजन शरीर आत्मा को साथ-साथ रखने के लिये ही होना चाहिये, वह जीभ के आनन्द के लिये नहीं। वह नारी योग नहीं कर सकती जो अधिक खाती है या कम। भोजन उचित समय पर उपयुक्त होना चाहिये। "गरिष्ठ भोजन विकारयुक्त विष के समान है।"

योगासन करने के पूर्व कुछेक आवश्यक उपाय

☼ योगासन सूर्योदय से पूर्व शौचादि नित्य क्रिया करने के पश्चात् करना चाहिये।

- योगासन के समय जाँघिया और बनियान का ही प्रयोग करें। शरीर पर जितना कम वस्त्र होगा उतना ही अच्छा है।
- योगासन के पूर्व गर्म जल स्नान विशेष लाभकारी होता है। शरीर लचीला होने से आसन करने में सुविधा होती है।
- योगासन करते समय पेट बिल्कुल खाली रखना चाहिए।
- आसन एकान्त खुला हवादार स्थान में करना उपयुक्त होता है, अत्यधिक ठण्डक में कमरे में किया जा सकता है।
- योगासन समतल भूमि पर या चौकी पर कम्बल बिछाकर करना चाहिये।
- जो आसन अपने लिये उपयुक्त हो उसीको करें अन्यथा नहीं।
- योगासन करते समय मनमें शान्ति, प्रसन्न चित्त मुद्रा में रहना चाहिये।
- किसी आसन को उपयुक्त समय तक ही करें, जबरदस्ती अधिक समय तक न करें।
- योगासन करते समय श्वास-प्रश्वास की क्रिया (कुम्भक, पूरक, रेचक) पर विशेष ध्यान दें।
- जिस स्त्री को ३-४ माह का गर्भ हो और रजस्वला हो तो आसन नहीं करना चाहिये।
- सम्पूर्ण क्रिया एवं आसन करने के पश्चात् शवासन अवश्य करें।
- योगासन को कहीं से पढ़कर, सुनकर या टी० वी० में देखकर, बिना किसी योग्य योगकर्ता से सम्बन्ध किये ही न करें। सम्पूर्ण जानकारी के पश्चात् ही योगासन करना उपयुक्त होता है।

महिलाओं के लिए विशेष उपयोगी आसन भी हैं

(१) पद्मासन—इस आसन को करने के के लिये दोनों पैरों को आगे की ओर फैलाकर बैठ जाइये। तत्पश्चात् दाहिना पैर बांयी जाँघ पर और बांया पैर दाहिनी जाँघ पर रखिये। यह आवश्यक ध्यान दें कि नाभि के बीच में दोनों पैर की एड़ियां आपस में सटी रहें। पंजा, तलवा ऊपर की ओर रहे। इसके पश्चात् हाथों को घुटनों पर रखकर शरीर को सीधा कीजिये जिससे सिर, मेरुदण्ड, कटिभाग एक सीध में हो जाय। 'प्राणायाम' भी इसी आसन मुद्रा में करना चाहिए।

इस आसन के द्वारा ब्रह्मचर्य रखने में एक महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। आध्यात्मिक शक्ति प्रज्वलित होती है। बुद्धि, विचार, मनः शान्ति, शक्ति बढ़ती है। कटिवात रोग, मेरुदण्ड की बीमारी, मानसिक रोग, वायु विकार रोग दूर हो जाते हैं।

(२) पश्चिमोत्तासन—इस आसन को करते समय पीठ के बल लेट जाइये, दोनों पैरों को सटा लीजिये और हाथों को कानों से सटाते हुए सीध में फैलाकर धड़ के साथ ऊपर की ओर उठाइये और फिर आगे की ओर झुक

जाइये। उस समय धीरे-धीरे साँस को बाहर की ओर निकालिये और पेडू को पीठ की ओर अन्दर खींचिये। जितनी देर तक साँस रोक सकें खींचिये, साथ-साथ अँगूठे को पकड़े रहिये, तत्पश्चात् साँस को लेते हुए पूर्व अवस्था में आ जाइये, इस क्रिया को ५-६ बार कीजिये।

इस आसन को करने से विशेषकर उदर, घुटना, मेरुदण्ड, भुजाओं एवं गुर्दा का अच्छा व्यायाम हो जाता है। इससे जठराग्नि तीव्र हो भूख खूब लगती है। इस क्रिया से गर्भाशय की कमजोरी, योनि विकार, मूत्र विकार, स्वप्न दोष, प्रमेह, रक्त प्रदर, श्वेत प्रदर, मासिक धर्म में आने वाले रोग दूर हों, गण्डमाला, टांसील, नजला, जुकाम नहीं हो पाता तथा हृदय रोग को भी दूर करने में सफलता मिलती है।

(३) गोमुखासन—इस आसन को करने के लिये पहले पलथी मार कर बैठ जाइये। अब बाँये पाँव की एड़ी को दाहिने जंघा के नीचे रखिये और दाहिने पाँव की एड़ी को बाँये नितम्ब के नीचे रखिये। फिर दाहिनी भुजा को मोड़कर दाहिनी कोहनी को ऊपर उठाकर कान की सीध में लाते हुए हथेली पर रखिये। तत्पश्चात् बाँये हाथ की कोहनी को पीठ की ओर करके ऊपर ग्रीवा की ओर से लाकर दोनों हाथों की अँगुलियों को बाँध लीजिये। इस क्रिया को करते समय रीढ़ और गर्दन को सीध में रखिये, कहीं कोई झुकाव न हो। इस क्रिया को इसी प्रकार पाँव बदलकर भी कीजिये।

इस क्रिया के द्वारा मेरुदण्ड की वक्रता दूर होकर कटिशूल, वातशूल, आँत उतरना, हार्निया, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप एवं निम्न रक्तचाप दूर हो जाता है। श्वास रोग तथा छाती के रोग को भी दूर करता है।

(४) मत्स्येन्द्रासन—दोनों पैरों को सामने की ओर फैलाकर बैठ जाइये। तत्पश्चात् बाँये पैर को मोड़िये, उसकी एड़ी को गुदा एवं योनि स्थान के मध्य में रखिये। इसके बाद दाँये पैर के घुटने को ऊपर की ओर मोड़कर बाँयी जाँघ दाँयी ओर इस प्रकार रखें कि कि उसका तलवा भूमि आ जाय। तत्पश्चात् बाँये हाथ को दाहिने घुटने को दाहिने पार्श्व की ओर से लाकर दाहिने पैर का अँगूठा पकड़िये। धीरे-धीरे साँस लेते हुए दाहिने हाथ को ओर से लाकर कमर पर रखिये और सिर सहित सम्पूर्ण शरीर को बलपूर्वक दाहिनी ओर मोड़िये, जितना अधिक समय तक मोड़ सकें। इसके पश्चात् धीरे-धीरे श्वास को छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में ले आइये। इसी क्रम से दूसरी ओर भी कीजिये।

इस आसन के द्वारा आँतें क्रियाशील होकर कब्ज दूर हो। धातु रोग, मधु-मेह, रक्तचाप, स्त्रियों के गर्भाशय की सूजन, मासिक धर्म कष्ट-प्रद, अतिसार, अतिरज कष्ट आदि समूल नष्ट हो जाते हैं तथा इस क्रिया से

स्नायुशूल, कटिशूल, फेफड़ा, पसलियाँ, स्नायु-मण्डल पुष्ट एवं सबल होते हैं।

(४) शवासन—इस आसन के लिये पीठ के बल लेट जाइये। ऐड़ी, पंजा, घुटना परस्पर सटाकर रखिये। हाथ खुला हो कमर के पास रखिये। आँखें बन्द करके सारे बदन को ढीला छोड़ दीजिये। बिल्कुल मुर्दों के आकार का हो जाइये। कहीं पर किसी भी प्रकार का तनाव, उत्तेजना न हो। भावनाओं को बिल्कुल शान्त रखें।

इस क्रिया के द्वारा शरीर को सुख एवं मन को शान्ति मिलती है। हृदय रोग, घबराहट, बेचैनी, रक्त-चाप, न्यूरोसिस, थकावट आदि रोग समूल नष्ट हो जाते हैं। सभी आसन करने के पश्चात् भी शवासन करना उपयुक्त होता है।

योगासन क्रिया का अपना प्रायोगिक अनुभव है कि इससे प्रायः सभी मानसिक तथा शारीरिक रोग निर्मूल हो जाते हैं। यह एक सात्विक व्यायाम है जिसको सभी नर-नारी अपने अनुकूल इच्छानुसार योगासन को कर सकते हैं, इससे सदैव प्रसन्नता की जागृति होती है। इस क्रियाके द्वारा काम-क्रोध-लोभ का शमन होता है। योगाभ्यास और श्रेष्ठ तथा नियमित आचरण से ही मानव दीर्घायु को प्राप्त होता है। प्राकृतिक रूप से रहन-सहन के साथ शान्ति रखा जाय तो बाह्य रूप से प्रभावित होने वाले कारणों से कोई हानि नहीं होती। आत्मा इतनी बलवती हो जाती है कि वह कुछ भी करने को सक्षम हो जाती योगाभ्यास के द्वारा शरीर सुडौल, चमत्कारी चेहरा एवं सुन्दरता को प्राप्त कर सदैव निरोगी एवं प्रसन्नचित्त रह सकता है। इसी प्रकार उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर सभी माँ एवं बहनों को हिदायत है कि नियमित रूपसे उपयुक्त आसन को प्रतिदिन दैनिक दिनचर्या की भाँति सूर्योदय के पूर्व ही योगासन करें। शरीर को स्थायित्व, दीर्घायु एवं सुन्दर योगासन से ही प्राप्त कर सकते हैं अन्यथा किसी और विधि से नहीं।

☞ भारत में धर्म बहुत दिनों से गतिहीन बना हुआ है। हम चाहते हैं कि उसमें गति उत्पन्न हो। मैं प्रत्येक मनुष्य के जीवन में इस धर्म को प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि प्राचीन काल की तरह राजमहल से लेकर दरिद्र के झोंपड़े तक सर्वत्र समान भाव से धर्मका प्रवेश हो। याद रहे, धर्म ही इस जाति का साधारण उत्तराधिकारी एवं जन्म-सिद्ध स्वत्व है। इस धर्म को हर एक आदमी के दरवाजे तक निःस्वार्थ भाव से पहुँचना होगा।

—स्वामी विवेकानन्द

❀ अमृत-सर : यौवन-सुरा ❀

❀ श्री दिनेशनन्दिनी डालमिया

(१)

अलंकार और छन्द मेरी वाग्देवी के श्रृङ्गार और सुन्दरता हैं अथवा वाग्देवी के चकित करने वाले सौन्दर्य से ही शब्द-शिल्प-शास्त्र की महिमा और महत्व है ?

अलंकारों, छन्दों और ऋचाओं के शब्द विन्यास से ऊपर उठ कर अखण्ड मौन के प्रदेश में ही ब्रह्म की खोज करनी होगी क्योंकि कवियों ने केवल तत् को छोड़कर ही सब को उच्छिष्ट बना दिया है।

वेद, पुराण और षट्शास्त्र नेति-नेति कह मौन द्वारा ही उस का संकेत मात्र करते हैं।

योगीजन समाधि में ही उस ध्यान-गम्य ज्योति-पुञ्ज से आत्मसात् होते हैं।

वक्ता और ग्रन्थकार अनादिकाल से उस तथ्य की टीका करते-करते थक गये किन्तु वह खुला रहस्य अद्यावधि रहस्य ही बना हुआ है।

ब्रह्मानन्द के लिये तृषित रसने ! छन्दों और अलंकारों के मोह से मुक्त होकर भँवर-गुफा से झरने वाले अमृत-सर के अजस्र स्रोत से अपने को आर्द्र कर रस-रङ्गी बन !

(२)

तुम मुझे उस पार बुला रहे हो जब मृत्यु के अमानवी सौन्दर्य ने मेरे अङ्ग-अङ्गों को अलसा दिया है।

यमराज के शस्त्र दण्ड की धारणा से चित्त अस्थिर है।

गो-पुँछ के सहारे वैतरणी तर गन्तव्य तक सकुशल पहुँचने के विषय में विघ्न की आकांक्षाओं से भी भयातुरा हूँ।

फिर भी तुम्हारी पुकार को समादृत कर यात्रा-पथ पर पग बढ़ेंगी, और खण्डित शृंगार को सँवारते-सँवारते सदियाँ गुजर जायेंगी, और तुम प्रतीक्षा की रसवंती संध्या में मिलन के मूर्छित आह्लाद का आस्वादन करोगे उसके पूर्व ही उल्लास के रात और दिन रूपी पर झड़ जायेंगे।

बन-ठन कर आऊँगी किन्तु तुम मुझे पहिचान न पाओगे क्योंकि मृत्यु की यौवन-सुरा ने मेरे अङ्गाङ्गों को अलसा दिया है। ❀❀

धर्म का पहला साधन-स्वस्थ शरीर

श्री सोनेराव आचार्य एम० ए०

शरीरं हि आद्यं खलु धर्म साधनम्

(कर्तव्य कर्म के सम्पादन में शरीर सबसे पहला साधन है।)

भारतीय तत्त्वचिंतकों ने मनुष्य के चार पुरुषार्थ माने हैं। (१) धर्म (२) अर्थ (३) काम और (४) मोक्ष। इन चारों पुरुषार्थों की सिद्धि में ही जीवन की सार्थकता है। इनकी सिद्धि में जहाँ अनेक साधन हैं, वहाँ स्वस्थ शरीर पहला और सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है।

स्वस्थ शरीर का मूल्य इस रत्नगर्भा वसुन्धरा से कहीं अधिक है। इस शरीर का एक एक अङ्ग आपके खजाने का एक एक अमूल्य रत्न है। यदि आप स्वस्थ हैं, तन्दुरुस्त हैं, हृष्ट पुष्ट और बलिष्ठ हैं, तो सूखी रोटी खाकर भी, कठोर भूमि शय्या पर भी सुख की नींद सो सकते हैं। और यदि आप अशक्त हैं, रुग्ण अथवा अस्वस्थ हैं तो उत्तमोत्तम स्वभावों से भी क्या लाभ? यदि आप दुर्बल हैं तो अनेकों कमरों में बिछे हुये मखमली बिस्तरों पर भी आराम की नींद नहीं सो सकेंगे।

स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन रहता है। शारीरिक दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति का मन निश्चयात्मक होता है। विपरीत परिस्थितियों में भी वह दृढ़ निर्णय लेने में समर्थ होता है। कमजोर शरीर में दुर्बल मन दर्द से कराह रहा होता है। जरा सी विपरीत हवा चली कि वह घबरा उठता है। उसके निर्णय डाँवाडोल होते हैं। उसमें आत्मविश्वास की भारी कमी होती है। अपने चारों ओर वह कल्पित कठिनाईयां खड़ी कर देता है। जिससे वह और अधिक बेचैन होता है।

शास्त्रों में कहा है शरीर को रथ समझो। शरीररूपी रथ आत्मा का साधन है। इस रथ में बैठकर जीवात्मा को अपनी जीवन यात्रा पूर्ण करनी है। साधन ठीक हो तो रथ-स्वामी जीवात्मा अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जायेगा। पाठकगण! जीवन के महाभारत में आपका यह शरीर-रथ कर्ण की तरह कहीं आपको भी धोखा न दे।

न केवल भारत के अपितु संसार के सभी महापुरुष शरीर से स्वस्थ एवं समर्थ थे। अथवा यूं कहना होगा कि जब उन्होंने अपने महान् कार्यों का आरम्भ किया। सबसे पहले अपने शरीर को नीरोग एवं सशक्त बनाया। ठीक ही है जो अपना उद्धार नहीं कर सकता, वह दूसरों का कल्याण कैसे कर सकता है।

युवको! उत्तम स्वास्थ्य चक्रवर्ती राज्य से कम नहीं है। जो सुन्दर शरीर भगवान् ने तुम्हें दिया है। इसका मूल्य समझो। इसको पूर्णरूप से रोग रहित, सशक्त एवं सुन्दर रखना तुम्हारा पहला कर्तव्य है। स्मरण रखो, महान् कार्यों की सिद्धि में स्वस्थ शरीर सर्वोत्तम साधन है।

श्री राधा तत्व

श्री देवीसिंह सिसोदिया

जन साधारण की समझ में जैसा स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध है, वैसे ही भगवान श्रीकृष्ण और श्री राधा का सम्बन्ध है, पर ऐसी बात नहीं है। श्रीकृष्ण और श्री राधा का जो प्रेम है, वह एक बड़ा ही विलक्षण तत्व है, इसमें भी श्रीराधा प्रेम-तत्व है। जिस तरह लोभी पुरुष के सामने एक तो होता है धन और एक होता है धन की तरफ खिंचाव। धन प्रिय लगता है, धनमें खिंचाव होता है, इसको लोभ कहते हैं। इसी तरह एक तो हैं प्रभुजी और एक है प्रभुजी की तरफ खिंचाव। प्रभुजी में जो खिंचाव है, वह श्रीराधा तत्व है और जिसमें वह खिंचाव होता है, वह श्रीकृष्ण तत्व है। लोभ में तो केवल मनुष्य का ही धन में खिंचाव होता है, धन का मनुष्य में खिंचाव नहीं होता, परन्तु प्रेम में योगिराज श्रीकृष्ण का श्रीराधा में और श्रीराधा जी का योगिराज श्रीकृष्ण में परस्पर खिंचाव होता है। सामान्य स्त्री-पुरुष का भी खिंचाव होता है, उसमें और श्री राधा-कृष्ण के खिंचाव में यही बड़ा भारी अन्तर है।

स्त्री-पुरुष का खिंचाव तो अपने आनन्द तथा सुख के लिये होता है, पर श्री राधा जी और योगिराज श्रीकृष्ण का खिंचाव एक-दूसरे को आनन्द देने के हेतु होता है, निजी आनन्द के लिये नहीं। जहाँ निजी आनन्द का भाव होता है वहाँ राग होता है, कामना होती है, जो मनुष्य को फँसाने वाली होती है।

थोड़ी देर की इस बात को ऐसे समझ सकते हैं, जैसे गाय का बछड़े में खिंचाव होता है और बछड़े का भी गाय में खिंचाव होता है। बछड़ा तो अपने लिये ही गाय को चाहता है-क्योंकि वह समझता ही नहीं कि गाय का हित किसमें है, परन्तु गाय केवल अपने लिये ही बछड़े को नहीं चाहती है। परन्तु ऐसा होने पर भी गाय की ऐसी इच्छा रहती है कि बच्चा बड़ा हो जायगा और उससे तरह तरह की कामना करती रहती है। ऐसी उसके भीतर भविष्य के सुख की आशा रहती है, चाहे वह इस बात को अभी स्पष्ट जाने या न जाने, परन्तु योगिराज श्रीकृष्ण और श्रीराधा जी में ऐसा भाव नहीं रहता कि भविष्य में सुख-आनन्द मिलेगा। उनको तो एक-दूसरे के देखने मात्र से आनन्द होता है। अब आनन्द का वर्णन कैसे करें, संसार में ऐसा कोई सुख व आनन्द है ही नहीं। संसार में प्राणीमात्र का जो आकर्षण होता है, वह आकर्षण शुद्ध नहीं है, पवित्र नहीं है, क्योंकि वह अपने आनन्द के लिये, अपने स्वार्थ के लिए होता है।

हम धन चाहते हैं तो धन की परतन्त्रता, कुटुम्ब चाहते हैं तो कुटुम्ब की परतन्त्रता,

शरीर रखना चाहते हैं तो शरीर की परतंत्रता हो ही जाती है। चाहने वाला स्वयं तुच्छ हो जाता है। संसार को बड़ा मानकर उसका मान करता है और स्वयं उसका गुलाम बन जाता है और अपना पतन कर लेता है। योगिराज श्रीकृष्ण व योगिनी श्री राधाजी के सम्बन्ध में ऊपर कही गई दोनों ही बातें नहीं हैं, श्री राधाजी—श्रीकृष्ण की तरफ खिंचती हैं, जिसमें योगिराज को सुख हो और योगिराज श्री राधाजी तरफ खिंचते हैं, जिसमें राधाजी को सुख व आनन्द हो। एक-दूसरे के प्रति ऐसा भाव होने से एक-एक का प्रेम बढ़ता है, जहाँ सुख लेने की ही इच्छा होती है वहाँ वैसा प्रेम हो ही नहीं सकता।

"प्रेम उसे कहते हैं जो बढ़ता ही रहे, जिसमें मिलनेकी उत्कण्ठा बढ़ती ही रहे, तृप्ति होती ही नहीं। मेरे श्यामसुन्दर और मेरी श्रीराधा सदा मिले ही रहते हैं। पर ऐसा लगता है कि मानो कभी मिले ही नहीं, आज ही नया मिलन हुआ है।"

अवरत मिलिबे की निसि-दिन,
मिलेइ रहत मनु कबहुँ मिलेना।

संसार का कोई सुख हो, कहीं भी हो, जिस किसीमें हमारी रुचि होती है, हम सुख लेते हैं तो पहले आनन्द-सुख की इच्छा प्रबल होती है, फिर कम हो जाती है। उसका सेवन करते-करते फिर सुख की इच्छा नहीं रहती। इतना ही नहीं, उस आनन्द-सुख से ग्लानि हो जाती है। अतः संसार का कोई सुख ऐसा नहीं है, जो निरन्तर बना ही रहे। मेरे 'महाप्रभु' योगिराज का सुख तो ऐसा विलक्षण है कि वह निरंतर बढ़ता ही रहता है, 'उसकी कभी तृप्ति होती ही नहीं, मुझे ऐसा अनुभव हुआ है। संसार का आनन्द हर पल नष्ट होता है, मगर "श्री राधाजी और श्रीमहाप्रभु योगिराज का प्रेम पल-पल बढ़ता ही रहता है। वह किस रीति से बढ़ता है? इस रीति से बढ़ता है कि मिले रहते हुए भी मानो कभी मिले ही नहीं।"

जिसे वैभव न मिले, उसको वैभव मिल जाय, जिसको धन न मिले उसको धन मिल जाय, ऐसा एक खिंचाव होता है और धन मिलने पर खिंचाव कम हो जाता है। परन्तु जब "श्री राधाजी और योगिराज श्रीकृष्ण का मिलन होता है तो मिलन होने पर भी खिंचाव बढ़ता रहता है, ऐसा मुझे अनुभव हुआ है।"

सूफी सन्तों की वाणी में आया है—'लाल प्रिया में भई न चिन्हारी।' लाल और प्रिया अर्थात् योगिराज और श्रीहरि जी में अभी तक पहचान ही नहीं हुई कि तुम कौन हो। जब तक धन नहीं मिलता तब तक धनकी पहचान नहीं होती। परन्तु प्रेम में मिलन होने पर भी पहचान नहीं होती और फिर मिलें, फिर मिलें यह इच्छा रहती है। इस कारण "प्रेम का आनन्द ज्ञान के आनन्द से भी विलक्षण है—

सब जगह एक महाप्रभु योगिराज परिपूर्ण है। ऐसे परम तत्व में स्थित होने पर एक अखण्ड आनन्द रहता है, वह कभी भी किञ्चितमात्र भी घटता नहीं, परन्तु प्रेमका आनन्द प्रतिक्षण बढ़ता ही रहता है। जैसे चन्द्रमा की कला बढ़ती है और बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा आ जाती है, "पर प्रेम के आनन्द में कभी पूर्णिमा आती ही नहीं।"

प्रेम सदा बाढ़्यौ करै, ज्यों शशिकला सुवेष।
पै पूनो यामें नहीं, ताते कबहुँ न शेष॥

ऐसा जो वर्धमान प्रेम है, योगिराज श्रीकृष्ण के प्रति ज़िसका उसका नाम है 'श्रीराधा'।

ऐसा कोई प्रेम है ही नहीं, जिसमें अरुचि न होती हो पर प्रभुजी के प्रेममें कभी भी रुचि कम होती ही नहीं, जब तक भोगों में आसक्ति रहती है, तब तक प्रभुजी में रुचि नहीं होती और जब 'श्री राधाजी' में रुचि हो जाती है सो हो ही जाती है, फिर अरुचि कभी हो ही नहीं सकती।

संसारी कहते हैं कि प्रभुजी के चरणों में मन नहीं लगता। जब मन प्रभु-चरणों में लग जायगा तो फिर वहां से अलग होगा ही नहीं, कहीं भी रहो। जैसे भुनगा हर चीज पर बैठता है पर अंगार पर नहीं, अगर "अंगार पर बैठ जाय तो फिर वह उठेगा नहीं, फिर तो धुआं ही उठेगा। इसी तरह यह मन 'आप-प्रभु' चरणों में लग जाय तो फिर वहां से हटेगा ही नहीं, चाहे कहीं रहो—पास या दूर। क्योंकि ऐसा विलक्षण आनन्द-सुख और है ही नहीं। इससे बढ़कर दूसरा कोई कारण है ही नहीं। मीराबाई ने कहा—

"अब छोड़ूँ नहीं,
भई है नागर नटकी।
हिरदे में वह बस गई राणा,
लटक मुकट की॥
अब तो लागी गोविन्द से प्रीति,
राणा पहले क्यों नहीं अटकी।"

प्रेम में प्रेमास्पद के जिस अङ्ग में दृष्टि लग जाती है वहां लग ही जाती है। योगिनी श्री राधा जी की दृष्टि योगिराज के कुण्डल में लग गई तो वहां से हटाकर मुख की तरफ ले जाना मुश्किल हो गया अब और कौन देखे उधर। कुण्डल की आभा मात्र देखकर वे वहीं मुग्ध हो गईं। इस कारण श्री राधाजी कहती हैं कि श्यामसुन्दर के दर्शन नहीं हो रहे हैं। उनके दर्शन कराओ, ऐसी जो आप-प्रभु दर्शन उत्कण्ठ-अभिलाषा है उसका नाम है—"श्री राधा मेरे प्रभु की कैसी अद्भुत लीला है कि प्रेम-तत्व को समझाने के लिये वे स्वयं श्रीकृष्ण और श्री राधाजी के रूप में प्रकट हुए। अगर 'आप-प्रभु' चाहते तो दो भिन्न रूप से, पुरुष रूप में प्रकट हो जाते अथवा दो स्त्री रूप से प्रकट हो जाते, पर संसारी प्रेम-तत्व को समझ नहीं सकते थे—'स्त्री-पुरुष में और पुरुष का स्त्री में जो आकर्षण होता है

गुरु की आवश्यकता और गुरु भक्ति

श्री योगी अरविन्द का दृष्टिकोण

हाँ, यह प्राण का एक दोष है, अनुशासन मानने की इच्छा की कमी है। मनुष्य को किसी अधिकारी व्यक्ति से ही सीखना होता है और उसके निर्देशों के अनुसार कार्य करना होता है, क्योंकि अधिकारी व्यक्ति उस विषय को जानता है और यह जानता है कि उसे किस प्रकार सीखा जा सकता है—ठीक जिस तरह आध्यात्मिक विषयों में मनुष्य को किसी गुरु का अनुसरण करना पड़ता है जिसे ज्ञान होता है और मार्ग का पता होता है। अगर कोई स्वयं अपने-आप ही सब कुछ सीखे तो सम्भावना बस यही है कि वह सब कुछ गलत ही सीखेगा। भला अशुद्ध रूप में सीखने की स्वतन्त्रता का क्या उपयोग है? निस्सन्देह, अगर छात्र अध्यापक की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान हो तो वह अध्यापक की अपेक्षा कहीं अधिक सीख लेगा, ठीक जैसे कि कोई महान् आध्यात्मिक क्षमताशील व्यक्ति उस अनुभूति को प्राप्त कर सकता है जिसे गुरु ने नहीं पाया है—पर फिर भी आरम्भिक अवस्थाओं में शासन और नियमानुवर्त्तिता अनिवार्य है।

सभी सच्चे गुरु एक समान हैं, एक ही गुरु हैं, क्योंकि सभी में एक ही भगवान हैं। यह एक मौलिक और सार्वभौम सत्यता है। परन्तु एक विभेद का सत्य भी है, विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न मन, विभिन्न शिक्षायें, विभिन्न प्रभाव लेकर भगवान निवास करते हैं जिससे कि वे विभिन्न शिष्यों को उनकी अपनी विशिष्ट आवश्यकता, चरित्र एवं भवितव्यता के अनुसार विभिन्न पथों से सिद्धि की ओर ले जा सकें। चूँकि सभी गुरु वही

(पिछले पृष्ठ का शेष)

उस आकर्षण को शुद्ध बनाने के लिये योगीराज पुरुष श्रीकृष्ण और स्त्री योगिनी श्रीराधा के रूप में प्रकट हुये।

संसारी लोगों का जो आकर्षण है वह अशुद्ध है निकृष्ट है, क्योंकि वह अपने सुख के लिए है, और मिटने वाला है पर यह बात श्री राधाजी और योगीराज जी में नहीं है।

हम लोगों की तल्लीन में—भजन में—ध्यान में—जो रुचि है, वह इस प्रेम को समझने का कुछ नमूना है, यह रुचि अधिक बढ़ जायगी तो वह योगिनी श्री राधाजी का स्वरूप अर्थात् प्रेम रूप हो जायगी जब प्रभुजी में ही तल्लीन हो जाने से प्रेम का विलक्षण आनन्द मिलेगा—जिसका वर्णन किया ही नहीं जा सकता।

एक भगवान है, इसलिये यह नतीजा नहीं [illegible] कि अगर कोई शिष्य अपने लिये निर्दिष्ट गुरु को छोड़ देता है और किसी दूसरे का अनुसरण करता है तो वह अच्छा करता है। भारतीय परम्परा के अनुसार प्रत्येक शिष्य से गुरु-भक्ति की गुरु के प्रति एकनिष्ठता की माँग की जाती है। "सभी एक हैं"—यह एक आध्यात्मिक सत्य है, पर तुम इसे विवेकहीनता के साथ कार्य में नहीं परिणत कर सकते, तुम सब व्यक्तियों के साथ, इस आधार पर कि वे सब एक ही ब्रह्म हैं, एक ही ढङ्ग से बर्ताव नहीं कर सकते, अगर कोई ऐसा करे तो उसका परिणाम व्यावहारिक क्षेत्र में एक भयङ्कर गड़बड़-झाला होगा। कठिनाई आती है कठोर मानसिक तर्क के कारण, परन्तु आध्यात्मिक मामलों में मानसिक तर्क सहज ही भूल कर बैठता है, क्योंकि, श्रद्धा, नमनीय आध्यात्मिक बुद्धि ही यहाँ पर पथप्रदर्शक हो सकती है।

श्रद्धा का जहाँ तक प्रश्न है, आध्यात्मिक अर्थ में श्रद्धा कोई मानसिक विश्वास नहीं है जो हिलडुल और बदल सकता है। श्रद्धा मन के अन्दर वह रूप ले सकती है, पर वह विश्वास ही स्वयं श्रद्धा नहीं है, वह केवल उसका एक बाहरी रूप है। ठीक जिस तरह कि शरीर, बाहरी रूप, बदल सकता है पर आत्मा वही बनी रहती है उसी तरह की बात यहाँ भी है। श्रद्धा अंतरात्मा में विद्यमान एक निश्चयता है जो बौद्धिक तर्क पर निर्भर नहीं करती, न इस या उस मानसिक धारणा पर, न किन्हीं परिस्थितियों पर, न मन या प्राण या शरीर की इस या उस चलायमान अवस्था पर ही निर्भर करती है। श्रद्धा छिपी हुई, राहुग्रस्त हो सकती है, कभी कभी बुझी हुई भी मालूम हो सकती है, पर वह आँधी-तूफान या ग्रहण के बीतने के बाद फिर से प्रकट हो जाती है, वह अंतरात्मा में उस समय भी जलती हुई दिखाई देती है जब मनुष्य यह समझता होता है कि वह सदा के लिये बुझ गई है। हमारा मन सन्देहों का एक चलायमान समुद्र हो सकता है और फिर भी वह श्रद्धा भीतर में रह सकती है और, अगर वह हो तो, वह संशय-क्लिष्ट मन को भी रास्ते पर बनाये रख सकती है जिससे कि वह अपने बावजूद भी अपने दैव-निर्दिष्ट लक्ष्य की ओर चलता रहे। श्रद्धा आध्यात्मिक, दिव्य, अंतरात्मिक आदर्श की एक आध्यात्मिक निश्चयता है, एक ऐसी चीज है जो उस समय भी उससे चिपकी रहती है जबकि वह जीवन में चरितार्थ नहीं होता, जबकि जीवन की प्रत्यक्ष घटनाएँ या झूठी परिस्थितियाँ उसे अस्वीकार करती हुई प्रतीत होती हैं। मानव-जीवन की यह एक साधारण अनुभूति है, अगर यह ऐसी न हो तो मनुष्य परिवर्तनशील मन का एक खिलौना या परिस्थितियों का एक खेल बन जायगा।

अनुशासन का महत्व

श्री पं० नरदेव स्नातक, पूर्व संसद्-सदस्य

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् उसका विकास सम्भव नहीं। समाज में रहकर ही वह पल्लवित और पुष्पित होता है। समाज में रहने के लिए उसे बहुत कुछ अधिकारों के रूपमें प्राप्त होता है। इन अधिकारों के साथ ही साथ अपना जीवन सफल और सुखी बनाने के लिये कर्त्तव्य भी लगे हुए हैं। इन कर्त्तव्यों का नियमित रूप से पालन करना ही अनुशासन है। योग का आदि तो अनुशासन से ही होता है।

अनुशासन प्रकृति की देन है। प्रकृति का चक्र अनुशासन की धुरी पर चल रहा है। यही कारण है कि समस्त नक्षत्रों का उदय-अस्त, ऋतुओं का क्रमशः परिवर्तन, रात और दिन का आगमन सभी परमपिता के अनुशासन में यथावत् चलते रहते हैं और अनुशासनहीनता का परिणाम है भयंकर प्रलय। देवताओं की निर्बाध विलास-निमग्नता से भयङ्कर प्रलय का दृश्य उपस्थित हुआ।

मनुष्य प्रकृति की गोद में पला है, अतः नियमों के अन्दर रहना आवश्यक है। यदि प्रकृति का चक्र नियमित न होता तो सृष्टि विशृंखल हो जाती। रवि, चन्द्र, नक्षत्र अपने स्थान से स्खलित हो जाते। ठीक इसी प्रकार अनुशासनहीन मानव उच्छृङ्खल और मर्यादाहीन होता है। अनियमित जीवन कभी सुख और शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता।

सभ्यता की प्रगति के साथ-साथ नियम और कानूनों का निर्माण होता है। सृष्टि के आरम्भ में प्राणी स्वच्छन्द विचरण करता था, किन्तु ज्यों-ज्यों मानवता का विकास हुआ, मनुष्यों ने अनुशासन-नियमों की आवश्यकता अनुभव की। फलस्वरूप नियमों का निर्माण हुआ। नियमों के अभाव में संसार में दानवता का ताण्डव नृत्य होता। प्रत्येक व्यक्ति अपने को नियामक और राजा समझता। अनेक कानून और नियमों के बन जाने पर भी हम देखते हैं प्रति दिन विचित्र घटनायें घटित होती रहती हैं जो अनुशासनहीनता का परिणाम मात्र है। प्रायः देखा जाता है कि इक्का, तांगा, मोटर, गाड़ी आदि अपने नियत स्थान पर चलते रहते हैं, मूक पशु अपने स्वामी के इच्छानुसार समय पर कार्य करता है, किन्तु मनुष्य इतना अनुशासनहीन और अमर्यादित है कि वह आंख बन्द करके विचित्र गति से चलता है, जिसका परिणाम होता है प्रतिदिन नई दुर्घटनायें। अनियमित और अमर्यादित जीवन—जीवन नहीं होता। अनुशासन में रहकर मनुष्य संयम और शिष्टता सीखता है जो जीवन को सौन्दर्य प्रदान करते हैं।

सभ्य कहलाये जाने वाले इस वर्तमान युग में जितनी अधिक अशान्ति, अनाचार और अनुशासनहीनता है, उतनी किसी भी युग में नहीं रही। प्रत्येक व्यक्ति कहता है, आज प्रगति का युग है, सभ्यता का युग है और राजनैतिक युग है, किन्तु यह सब विडम्बना मात्र है। विशेष रूप से अपने देश भारतवर्ष को इस समय इन सब बुराइयों का केन्द्र कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं, उसका एकमात्र कारण अनुशासनहीनता है। अनुशासन के विषय में हमारा देश इतना पिछड़ा हुआ है कि इस प्रवृत्ति को सँभालने में अभी सदियाँ बीत जायेंगी। साधारण व्यक्तियों का तो कहना ही क्या, शिक्षित और समर्थ व्यक्ति भी इस रोग से पीड़ित हैं। सब अपनी-अपनी ढपली और अपना-अपना राग अलापते हैं। अनुशासन में रहना अपमान समझते हैं। प्राचीन कालमें जहां विद्यार्थी गुरुओं के चरण-चिह्नों—संकेत मात्र पर, चलना अपना गौरव समझते थे, वहां आज इसी देशमें स्कूलों और कालिजों का शिक्षित तथा सभ्य विद्यार्थी समुदाय अनुशासनहीनता में अग्रगामी है। उन्हें चिन्ता नहीं नियमों की—आदेश की। इच्छानुसार कार्य न होने पर विरुद्ध प्रतिक्रिया के लिए तत्पर रहते हैं। हमारे राष्ट्रनायक भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने देश के नवयुवकों पर अनुशासनहीनता का दूषित प्रभाव देख कर अनेक बार रोष प्रकट किया था और चेतावनी दी थी कि यदि हमारा युवक समाज अनुशासन में रहना नहीं सीखेगा, तो वह कभी उन्नत न हो सकेगा।

जब हमारे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू रूस, युगोस्लाविया, रोम, आस्ट्रिया, इङ्गलैण्ड, मिस्र आदि देशों का दौरा करके अपने देश लौट आये, तब उन्होंने उन देशों के नागरिकों तथा छात्रों की अनुशासन-प्रियता की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। वहां शिक्षा संस्थाओं तथा विश्व-विद्यालयों आदि का उन्होंने निरीक्षण किया और वहां की अनुशासन-प्रियता की प्रवृत्ति को देख कर भारतवासियों को उनका अनुकरण करने के लिए निर्देश किया था। प्रधान मन्त्री की कथ-विलय को देखने से प्रतीत होता है कि वे देश अनुशासन-प्रियता के कारण ही वैभवशाली एवं समृद्ध बने हुए हैं। यदि हमारे नागरिक विदेशों के नागरिकों का अनुकरण करें तो अपने देश का गत गौरव पुनः प्राप्त कर सकते हैं। आज हमारे नेताओं तथा राष्ट्रनायकों का समस्त देश के लिए यही सन्देश है।

इसमें सन्देह नहीं कि यदि किसी देश और जाति को सभ्यता के उन्नत शिखर पर पहुँचना है तो अनुशासन उसकी महौषधि है। जिस परिवार में बच्चे माता-पिता के अनुशासन में रहते हैं, उसमें सुख-शान्ति निवास करती है। व्यक्ति को सुसंस्कृत बनाने के लिए अनुशासन परमावश्यक है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

(चाणक्य सूत्राणि)

सुखस्य मूलं धर्मः ॥१॥

धर्म (नीति या शास्त्रोचित कर्त्तव्य का पालन) सुख का मूल है।

धर्मस्य मूलमर्थः ॥२॥

धर्म का मूल अर्थ है।

अर्थस्य मूलं राज्यम् ॥३॥

राज्य (राज्य की स्थिरता) ही अर्थ (धन-धान्यादि सम्पत्ति या राजैश्वर्य का मूल (प्रधान कारण) होता है।

राज्यमूलमिन्द्रियजयः ॥४॥

अपनी इन्द्रियों पर अपना आधिपत्य प्रतिष्ठित रखना राज्य का (राज्य में राज्यश्री आने और उसके चिरकाल तक ठहरने का) सबसे मुख्य कारण है।

इन्द्रियजयस्य मूलं विनयः ॥५॥

विनय ही इन्द्रियों पर विजय पाने का मुख्य साधन है।

विनयस्य मूलं वृद्धोपसेवा ॥६।

ज्ञान वृद्धों की सेवा विनय का मूल है।

वृद्ध सेवाया विज्ञानम् ॥७॥

विजिगीषु मनुष्य वृद्धों की सेवा से व्यवहार कुशलता या कर्त्तव्याकर्त्तव्य पहचानना सीखे।

विज्ञानेनात्मानं संपादयेत् ॥८॥

राज्याभिलाषी लोग विज्ञान (व्यवहार कुशलता या कर्त्तव्याकर्त्तव्य का परिचय) प्राप्त करके (अर्थात् सत्य को व्यवहार भूमि में लाकर या अपने व्यवहार को परमार्थ का रूप देकर) अपने आप को योग्य शासक बनावें।

सम्पादितात्मा जितात्मा भवति ॥९॥

शासकोचित सत्य व्यवहार करना सीख लेने वाला ही जितेन्द्रिय हो सकता है। 卐

मन्त्र

मन्त्र मूलतः मनन के लिए होते हैं। मन्त्र में एकाध छोटा सा शब्द होता है, जिसमें बहुत अर्थ भरा रहता है और जो मनन को मदद करता है।

मन्त्र भी दो-तीन प्रकार के होते हैं। एक प्रकार के मन्त्र को विधि कहते हैं। वह मामूली मन्त्र होता है। जैसे उपनयन के समय गायत्री मन्त्र दिया जाता है। उसी तरह विवाह के समय भी मन्त्र दिया जाता है। संन्यास या वानप्रस्थाश्रम की दीक्षा के समय भी मन्त्र प्राप्त होते हैं। ये मन्त्र निमित्त होते हैं। यानी विद्या में, गृहस्थाश्रम में या दूसरे आश्रमों में प्रवेश करने की विधियाँ निश्चित की गयी हैं। उस समय जो मन्त्र देने वाला गुरु या पुरोहित होता है, वह निमित्तमात्र होता है। वह महाज्ञानी या अनुभवी हो, ऐसी अपेक्षा नहीं है। अच्छा हो, सदाचारी हो, इतनी इच्छा रहती है।

दूसरे प्रकार के मन्त्र को सकाम मन्त्र कहेंगे। वे भी दो प्रकार के माने गये हैं। कुछ मन्त्रों का उपयोग बुरे काम के लिए होता है। जैसे जारण-मारण मन्त्र हैं। ऐसे मन्त्रों को तामस मन्त्र भी कहते हैं। उसके द्वारा संहारक शक्ति प्राप्त होती है। दूसरे प्रकार के सकाम मन्त्र अच्छे काम के लिये उपयोग में आते हैं। ऐसे मन्त्र काम के साथ कुछ प्रेरणा देते रहें, ऐसी भावना से दिये जाते हैं। जैसे हमने हमारे काम के साथ 'जय जगत्' मन्त्र दे दिया, ताकि भावना रहे कि हमारा काम दुनिया को जोड़ने के लिये है। इसमें भी व्यक्तिगत सत्कामना और सामूहिक सत्कामना ऐसा भेद रहता है।

तीसरे प्रकार के जो मन्त्र हैं, वे परमात्म-ज्ञान में प्रवेश कराते हैं। उनका उद्देश्य है साधना में मदद पहुँचाना। ऐसे मन्त्र अनुभवी गुरु से ही प्राप्त होने चाहिये। वह मन्त्र गुप्त होता है। यानी व्यक्ति की प्रगति के लिये उसकी परिस्थिति को ध्यान में लेकर गुरु एक विशेष मन्त्र उसको देता है। सन्तों ने राम-कृष्ण-हरि इत्यादि व्यापक मन्त्र भी दिये हैं। जहाँ तक व्यक्तिगत मन्त्र का ताल्लुक है, साधक की शक्ति-बुद्धि ध्यान में लेकर अनुकूल मन्त्र दिया जाता है। यहाँ प्रश्न आता है कि अनुभवी योग्य गुरु न मिले, तो क्या किया जाय? वहाँ शास्त्र के आधार से ही आगे बढ़ना होगा। शास्त्र के वचन, अच्छे ग्रन्थ बार-बार पढ़ने होंगे। यानी जप की जगह स्वाध्याय आयेगा।

चौथे प्रकार का मन्त्र सबसे महत्त्व का मन्त्र है। ऐसे मन्त्र का केवल जप ही नहीं करना होता, उसके अर्थ पर चित्त में सतत् चिन्तन होना चाहिए। सिर्फ जप किया, तो उससे नुकसान नहीं, लेकिन उतना फायदा भी नहीं। असम के संत श्री शङ्करदेव और माधवदेव की बात है। माधवदेव पहले शक्ति के भक्त थे। शङ्करदेव ने उनको समझाया, मन्त्र दिया, तो उनकी भावना बदल गई। यहाँ शङ्करदेव का दिया हुआ मन्त्र आध्यात्मिक था। वह माधवदेव के लिये ही था। वह क्या था, जाहिर नहीं। लेकिन मान सकते हैं कि उन्होंने माधवदेव को जड़ पकड़ने की सिखाया। जड़ को पानी देते हैं, तो पत्र-पुष्प आदि सबको मिल जाता है।

इस प्रकार का मन्त्र किसी प्रकार के बन्धन में नहीं डालता। मन्त्र देने के बाद गुरु भी स्वतन्त्र है, शिष्य भी स्वतन्त्र है। शिष्य की स्वतन्त्रता में और बुद्धि-विकास में वह बाधा नहीं डालता। —आचार्य विनोबा

SIDDHAYOGA—Regd. No. L AG. 038 Aug. 1985

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, बसई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

ईश्वर-प्राप्ति

ईश्वर-प्राप्ति का मार्ग क्या है ?

ईश्वर-प्राप्ति का सरल उपाय यह है कि उसकी मनुष्य को इच्छा हो। इच्छा नहीं है, तो ईश्वर-प्राप्ति सम्भव नहीं है। इच्छा है, दरवाजा खुला है, तो ईश्वर खुद प्रवेश करेगा। ईश्वर ढूंढता है ऐसे मनुष्यों को, जो उसकी इच्छा करते हैं। परन्तु मनुष्य दरवाजा बन्द रखता है। ईश्वर को अन्दर आने नहीं देता। हमको ईश्वर को पाने की जितनी इच्छा है, उससे ज्यादा ईश्वर को हमारे अन्दर प्रवेश करने की इच्छा है। लेकिन हम हृदय बन्द रखते हैं। हृदय खोलने का उपाय हमने बता दिया है—सत्य, प्रेम, करुणा।

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, बसई काजी, ताजगंज, आगरा-१ फोन ६३३६